

गौता माता की गोद में





ॐ

मार्गीय संस्कृति की अमूल्य संपत्ति को जितने भी दृढ़ अभ्यास
निर्वाचित, अथवा अन्य प्रविष्टि मातृ देश के सुवर्ण भूखण्डों
के मार्गीय निधि का, एक नये सुवर्ण संघ को अंतर,
। किन्तु इस सुवर्ण निधि को । मंगलानुसार, सर्व
अच्छ प्रविष्टि को नर नारी । सर्वोत्तम
में सदा निरंतर मर लक्ष्य सशर

- क हें !
लालः !

निनीत एवं भारी
'जीवन'
नर नारी

हेली नर नारी अथवा नारी ।

१४.३.४८



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

संस्कृत-विभाग

१९५५

संस्कृत-विभाग

संस्कृत-विभाग

१९५५

संस्कृत-विभाग

संस्कृत-विभाग

१९५५

संस्कृत-विभाग

१९५५

संस्कृत-विभाग

संस्कृत-विभाग

१९५५

संस्कृत-विभाग

संस्कृत-विभाग



श्री गीता माता की गोद में

विश्राम्यामृतम्

पुनः

धर्म्यामृतम्

प्राप्त करने की प्रबल इच्छा

का

उद्भव,

प्रसादामृतम्-दिव्य प्रकाश

पहला भाग—पहला खण्ड

लेखक

‘सीकर’

प्रकाशक

श्री गीता आश्रम

१०, सदर बाजार

दिल्ली कैंप

प्रार्थना—आप पढ़िये और अन्य जिज्ञासुओंको पढ़नेको दीजिए

—सीकर

प्रथम संस्करण : १९६७
(दो हजार प्रतियाँ)

मुद्रक :
राधाप्रेस
गांधीनगर, दिल्ली-३१
द्वारभाष : २१३१०७

मूल्य : दो रुपए
सजिल्द : दो रुपए पचास पैसे

प्राप्ति स्थल :

- गीता आश्रम १०, सदर बाजार, दिल्ली कैण्ट, द्वारभाष : ३९१०८०
- श्री शिवदत्त श्रीमाली २१४, भोपाल पुरा, उदयपुर-राजस्थान ।
- डॉ० शिवशंकर खन्ना ई, ६५ सेक्टर II, जगन्नाथ नगर, राँची-विहार
- श्री रमेश श्रीवास्तव, ग्रैंड होटल, जीरो रोड, इलाहाबाद ।
- श्री ए-एस-मिश्रा, बूलन्टस्क्वायर, लखनऊ ।
- श्री मथुरा प्रसाद शर्मा द्वारा श्री नरसिंह सहाय मदन गोपाल, इलैक्ट्रिक कम्पनी, मनीराम की बगिया, कानपुर ।
- देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित गीता आश्रमों से पुस्तक मिल सकेगी ।

विषय-सूची

● भूमिका ● निवेदन ● प्रस्तावना ● चित्र ● दिव्य-संदेश	क-ठ
१. अवतार तत्त्व ।	१
२. असंस्कारी को संस्कारी बनाना ।	६
३. प्रत्येक विधि में सत्य और अहिंसा का प्रयोग ।	१०
४. बिगड़ी को मिटाने की विधि ।	१३
५. पापी मन ।	१६
६. सत्य वस्तु पाने का रास्ता सदसद्गुरु	१६
७. पाप पुण्य	२४
८. ज्ञान के बदले कर्म से मोक्ष कैसे मृत्यु से परे का जीवन कैसा जड़ पदार्थ और शक्ति कन्यादान ।	२६
९. करमगति टारे नाहि टरे । 'गहना कर्मणोगतिः' ।	३३
१०. समदर्शित्व-आध्यात्मिक विकास चरित्र संगठन ।	३७
११. उपनिषदों के भूले हुए ज्ञान को व्यवहार द्वारा सजीव बनाइये ।	४२
१२. प्रारब्ध कर्म की विलीनता चौरासी लक्ष्य योनियाँ	४८
१३. गीता में युद्ध की ध्वनि अवश्य है, परन्तु हिंसा विरहित संयोग-वियोग ।	५३
१४. सुख की सुखरूपता ही जाती रहती कीर्तन में ढोंग तथा अग्न्य प्रश्नोत्तर	५८
१५. गृह-स्वामी का अपनी सन्तान तथा आश्रितों के प्रति शास्त्रोक्त व्यवहार शिशु के प्रति माता पिता का, छोटे बालको में आपसका	६३
१६. कैसे माना जाय कि ईश्वर है ?	७१
१७. हिन्दू धर्म और उसके अन्तर्गत विचार ।	७६
१८. हमारे पण्डित जी तथा अन्य विश्रुतियाँ ।	८१
१९. सत्संग का विस्तार ।	८५
२०. प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान ।	९०
२१. भविष्यत् वाणी पर विश्वास-अविश्वास ।	९५
२२. कर्म के प्ररास्तत्त्व में भावना की तात्त्विकता ।	९८
२३. अशिष्ट व्यवहार के प्रति शिष्ट व्यवहार, न कि जैसे के साथ तैसा ।	१०२
२४. असहाय विद्यार्थियों की आर्थिक समस्या पर गीता माता से प्राप्त उत्तर	१०५

प्रथम संस्करण : १९६७
(दो हजार प्रतियाँ)

मुद्रक :
राधाप्रेस
गांधीनगर, दिल्ली-३१
दूरभाष : २१३१०७

मूल्य : दो रुपए
सजिल्द : दो रुपए पचास पैसे

प्राप्ति स्थल :

- गीता आश्रम १०, सदर बाजार, दिल्ली कैण्ट, दूरभाष : ३९१०८०
- श्री शिवदत्त श्रीमाली २१४, भोपाल पुरा, उदयपुर-राजस्थान ।
- डॉ० शिवशंकर खन्ना ई, ६५ सेक्टर II, जगन्नाथ नगर, राँची-विहार
- श्री रमेश श्रीवास्तव, ग्रैंड होटल, जीरो रोड, इलाहाबाद ।
- श्री ए-एस-मिश्रा, बूलन्टस्क्वायर, लखनऊ ।
- श्री मथुरा प्रसाद शर्मा द्वारा श्री नरसिंह सहाय मदन गोपाल, इलैक्ट्रिक कम्पनी, मनीराम की बगिया, कानपुर ।
- देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित गीता आश्रमों से पुस्तक मिल सकेगी ।

विषय-सूची

● भूमिका ● निवेदन ● प्रस्तावना ● चित्र ● दिव्य-संदेश क-ठ

१. अवतार तत्व ।	१
२. असंस्कारी को संस्कारी बनाना ।	६
३. प्रत्येक विधि में सत्य और अहिंसा का प्रयोग ।	१०
४. बिगड़ी को मिटाने की विधि ।	१३
५. पापी मन ।	१६
६. सत्य वस्तु पाने का रास्ता सदसद्गुरु	१६
७. पाप पुण्य	२४
८. ज्ञान के बदले कर्म से मोक्ष कैसे मृत्यु से परे का जीवन कैसा जड़ पदार्थ और शक्ति कन्यादान ।	२६
९. करमगति टारे नाहि टरे । 'गहना कर्मणोगतिः' ।	३३
१०. समदर्शित्व-आध्यात्मिक विकास चरित्र संगठन ।	३७
११. उपनिषदों के भूले हुए ज्ञान को व्यवहार द्वारा सजीव बनाइये ।	४२
१२. प्रारब्ध कर्म की विलीनता चौरासी लक्ष्य योनियाँ	४८
१३. गीता में युद्ध की ध्वनि अवश्य है, परन्तु हिंसा विरहित संयोग-वियोग ।	५३
१४. सुख की सुखरूपता ही जाती रहनी कीर्तन में ढोंग तथा अन्य प्रश्नोत्तर	५८
१५. गृह-स्वामी का अपनी सन्तान तथा आश्रितों के प्रति शास्त्रोक्त व्यवहार शिशु के प्रति माता पिता का, छोटे बालको में आपसका	६३
१६. कैसे माना जाय कि ईश्वर है ?	७१
१७. हिन्दू धर्म और उसके अन्तर्गत विचार ।	७६
१८. हमारे पण्डित जी तथा अन्य विभूतियाँ ।	८१
१९. सत्संग का विस्तार ।	८५
२०. प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान ।	९०
२१. भविष्यत् वाणी पर विश्वास-अविश्वास ।	९५
२२. कर्म के प्ररास्तत्व में भावना की तात्त्विकता ।	९८
२३. अशिष्ट व्यवहार के प्रति शिष्ट व्यवहार, न कि जैसे के साथ तैसा ।	१०२
२४. असहाय विद्यार्थियों की आर्थिक समस्या पर गीता माता से प्राप्त उत्तर	१०५

२५. भगवान की अपार और अनन्त माया के चिन्तन में उनकी किसी लीला को असम्भव मानना युक्ति-युक्त नहीं है तथा एक भ्रम निवारण । १०६
२६. दो सच्ची घटनाओं से ग्रहण करने योग्य एक व्यावहारिक उपदेश । १
२७. किस कारण से ऋषि कुल में उत्पन्न रावण की पापाचरण में प्रवृत्ति हुई ? ११६
२८. केवल एक स्थिति विशेष में ही माता की ज्योति का प्रकाश मिलता है ११६
२९. अवतार की प्रतीक्षा १२५
३०. क्षमा १२६
३१. प्रिय के वियोग जनित शोक विषाद में सत् सान्त्वना १३१
३२. यज्ञ कार्य मध्यस्थ विघ्नवाधाओं की बाहुल्यता से विचलित न होने की अनिवार्यता—रिहसल की उपयोगिता पर ध्यान । १३४
३३. ईश्वरार्पण बुद्धि से खान-पान का क्या अर्थ है और उसकी क्या विधि है ? १३७
३४. अम्यास की महिमा । १४०
३५. सेवा विनय प्रार्थना देवी सम्पद प्राप्त नर नारी के मुख्य गुण हैं । १४३
३६. प्रकट रूप से असन्दिग्ध निराभिमानी व्यक्ति का अति सूक्ष्म अहंकार ग्रसित व्यवहार १४५
३७. बुद्धिमान पिता, पुत्र, सास, बधू के परस्पर के संबंध तथा व्यवहार पर विचार । १४७
३८. कार्य की कुशलता में दीर्घ सूत्रता का विरोधी प्रभाव १५०
३९. सुरू-वृक्ष की जनक जहाँ केवल एक ओर स्वार्थमयी कामना है वहाँ दूसरी ओर निष्काम सेवा भाव यह सर्वांग उन्नति कारक तो वह अवन्ति । १५२
४०. भौतिक अथवा आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में पति-पत्नीके संगठित योग बिना कार्य कुशलता में पूर्णता दुर्लभ ही नहीं असम्भव सी रहती है । १५४
४१. एक मार्मिक शंका समाधान । १५८
४२. मन डूबे हुए कार्य में थकावट प्रकृति माता की चेतावनी ही होती है कि कहीं दिनचर्या एवं आचरण में भूल हो रही है । १६१
४३. यज्ञ कार्य में स्वान्तः सुख और शान्ति की अनुभूति ही उसकी प्रेरक बनी रहती है । १६३
४४. स्थिर वैराग्य की परम प्राप्ति के अभिलाषी की प्रयत्नशीलतामें राजस भोगों के परिणामस्वरूप कष्टों एवं दुःखों को तप रूप में धैर्य, साहस और श्रद्धा सहित सहते रहने की अनिवार्यता १६६
- चारों भागों के लेखों के शीर्षकों की सूची सम्मतिर्या, शुद्धिपत्र, भूलें । क-ड

भूमिका

दैनिक जीवन की विशेष घटनाओं का वृत्तान्त संक्षेप में लिपिबद्ध करके रखने का अभ्यास मेरा विद्यार्थी जीवन से पड़ा था। इंटरमीडियेट परीक्षा पास कर लेने के पश्चात्, जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र को घर का वातावरण छोड़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर छात्रावास में रहना पड़ा, तो मैंने यह चाहा कि वे १५ दिन में एक बार मुझको पत्र लिखें, जिसमें बीते हुए सप्ताहों की मुख्य-मुख्य घटनाओं के विषय में जो कुछ वे लिखना चाहें लिखकर भेजें। उनके ऐसे पत्र आने पर मैं अपनी टिप्पणियाँ लिखकर उनको वापस कर दिया करता था। यह क्रम बराबर चलता रहा। उनके और उनके पश्चात् दूसरे पुत्र के विदेश जाने पर तो यह पत्र साप्ताहिक हो गये।

कभी-कभी पत्रों के बीच में खो जाने के भय से मैं ऐसा करता रहा, कि अपने लिखे हुये पत्र में से उन पंक्तियों की प्रतिलिपि कराकर अपने पास रख लिया करता था, जिनको उसके बीच में खो जाने पर दुबारा लिखने में कठिनाता व्यापती थी, दूसरे आवश्यकता पड़ने पर देखने को भी। इस प्रकार मेरे पास लगभग २५ वर्ष में लिखे हुए पत्रों की प्रतिलिपियाँ एकत्रित हो गई थीं, जिनमें सब प्रकार के विषयों पर लिखे हुए मेरे विचार पड़े थे। १९४१ के पश्चात् जब मैंने नौकरी से अवकाश प्राप्त किया, और ज्येष्ठ पुत्र का उसमें प्रवेश हुआ, तब से तो जीवन में विविध प्रकार की समस्याएँ होते रहने के कारण इस क्रम में गति विशेष हो गई। समय भी अब पूरा अधिकार में रहने से शास्त्र का पठन-पाठन नियम से चलने लगा, जिसके प्रकाश में समस्याएँ कुशलता पूर्वक सुलभती चली गईं, और जीवन पहले से अधिक शान्तिमय बीतने लगा।

१९५७-५८ में मुझे १२, १३ मास फैजाबाद रहने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरे जामाता की आध्यात्मिक विषयों में उन दिनों विशेष रुचि होने से विविध प्रकार के प्रश्न भोजन के समय साथ-साथ रहने पर उठने लगे। उनके उत्तर में अपने विचार लिखकर भी उनको भेजता रहा। जब यह फाइल २५, ३० पत्रों की हो गई, तब एक दिन घर पर आये हुये एक महात्मा से "गुरु-कृपा" के विषय में बात होने लगी। फाइल भी उनके सामने लाई गई और इस विषय का लेख उनको सुनाया भी गया।

स्वामी जी की इच्छा होने पर और दो तीन लेख साधारणतया पढ़े गये। फाइल के पृष्ठ उलट-पलट कर स्वामी जी कह उठे कि इनको ग्रंथ रूप में ले आना चाहिये।

स्वामीजी के इस सुझाव को जामाता जी ने अपना लिया और उन पत्रों को टाइप करा डाला, मैंने उनसे ६ प्रतियाँ बना कर बहुओं वेदियों को भेज दीं।

एक दिन "लोक-सेवा" साप्ताहिक के सम्पादक जी और उनके साथ सहयोगी, मेरे पुत्र-अधिकारी जी से मिलने आये। "गीता माता की गोद में" नामक यह फाइल मेज़ पर रखी हुई देखकर उठाली और जब तक वे आवें उनके पृष्ठों को उलटते-पुलटते रहे। मुझसे मिलने की इच्छा प्रगट की। मिलने पर पूछा कि इन लेखों को आप हमें अपने पत्र में निकालने के लिये दें तो बहुत अच्छा हो। उत्तर में मैंने कहा, प्रसन्नता पूर्वक, परन्तु यह तो बहुत व्यक्तिगत हैं। बोले उनको इस विषय में सुधारना पड़ेगा, आप सुधारने को हमें देंगे। मैंने कहा कि मैं ही प्रयत्न करूँगा। इसके पश्चात् लेखक के नाम का प्रश्न उठा। मैंने इसमें संकोच किया, यह कह कर कि मैंने इस प्रकार लिखकर कभी प्रेस में भेजा नहीं है। इस पर उपनाम का सुझाव हुआ। रुड़की महाविद्यालय में मित्रों के दिये हुये अपने नाम का उपयोग करके मैंने सी० के० को सीकर में परिवर्तित कर दिया। अंग्रेजी के सीकर का अर्थ उपनाम में घट गया और हिन्दी का अर्थ और भी अधिक, कि यह सब सिन्धु में बिन्दु के समान है।

फाइल के पहले उन्हीं लेखों को लिया गया जिनमें व्यक्तिगत विषय नहीं के समान था, जैसे "अवतार-तत्व" गुरु-कृपा" इत्यादि। ऐसे ५, ७ पत्रों के छप जाने पर यह समाचार मिलने लगा कि पाठकगण इनको रुचि से पढ़ते हैं। मुझे इससे प्रोत्साहन हुआ और मैं आगे के पत्रों में से व्यक्तिगत विषय निकाल कर उनको "लोक-सेवा" में छपने के उपयुक्त बनाने में लग गया।

सम्पादक जी से मैंने यह इच्छा प्रगट की थी कि जो पत्र आप छापें उसकी २०, २५ प्रतियाँ मुझे कृपा कर भेज दिया करें, जिससे मैं अपने कुटुम्ब के युवक युवतियों को दे दिया करूँ, 'गीता माता' की टाइप प्रतियाँ तो ६ ही बनी थीं। परन्तु सम्पादक जी ने २०, २५ के स्थान पर १०० भेजना आरम्भ कर दिया। जब यह पत्र नं० १० तक छप कर ५-६ मास में इक्ठे हो गये, तो मैंने इनको पहले खण्ड के रूप में होली के शुभ अवसर पर मार्च '६० में बाँटने का निश्चय किया, और

अपने सम्बन्धियों और मित्रों को लखनऊ, कानपुर, दिल्ली और जहाँ-जहाँ का ध्यान आया उन प्रतियों को भेज दिया। ये पत्र सितम्बर, १९५६ से महीने में २ के क्रम से अधिक अब तक नहीं छप सके हैं, सब ओर से प्रयत्न करते हुये भी कि अधिक बार छपे। दूसरा खण्ड ११ से २१ तक का अगस्त में कृष्णाष्टमी तथा स्वतंत्रता दिवस के पर्व पर निकला। तीसरा २२ से ३२ तक का जनवरी १९६१ में नये वर्ष के उपलक्ष में निकला, चौथा ३३ से ४२ तक का अप्रैल १९६१ में रामनवमी के शुभ अवसर पर और पाँचवाँ ४३ से ५२ नम्बर तक का जून में गंगा दशहरा के अवसर पर निकला।

ज्यों-ज्यों इन खण्डों की माँग अधिक दीखती गई, मैं १०० प्रतियों से धीरे-धीरे बढ़ाने को सम्पादक जी से कहता गया। आजकल प्रत्येक लेख की २५० प्रतियाँ छपती हैं। नये-नये नाम ध्यान में आते रहे और उनके पास यह खण्ड पहुँचते रहे। ६० प्रतिशत से अधिक मेरे पास पहुँच के पत्र ऐसे सज्जनों के आते रहे हैं जिन्होंने अपनी प्रसन्नता इन खण्डों के पाने पर दिखाई है।

जब फैजाबाद में लिखे हुए पत्र छपते-छपते समाप्त हो गये तब मैंने अपने पुराने पत्रों पर हाथ डाला। उनमें वैयक्तिकता गुथी हुई थी। उसको दूर करने में लग कर ऐसे रूप में ले आया कि वे जनता के सामने रखे जा सकें। इस कार्य में काम बढ़ता चला गया, परन्तु प्रारम्भ से ही मुझे २, ३ सज्जनों का पर्याप्त सहयोग बराबर मिलते रहने से वह काम बिना किसी विघ्न-बाधा के चलता रहा और लेख तैयार होते रहे।

मेरा भतीजा जब ३ वर्ष में आक्सफोर्ड से स्नातक होने के पश्चात् भारत लौटा तो १४, १५ माह दिल्ली में आई० ए० एस० परीक्षा की तैयारी में लगा हुआ मेरे पास रहा। उसकी गीता ज्ञान में रुचि पहले से ही थी, जब वह इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में पढ़ता था। आक्सफोर्ड से उसके आये हुये पत्रों में भी यह ही विषय अधिकतर रहा करता था। दिल्ली आने पर वह क्रम चलता रहा और लिखित प्रश्नोत्तर की बड़ी फाइल बन गई। इसके पश्चात् एक दूसरे नवयुवक के साथ वह फाइल चलती रही। इनसे भी चार पाँच वर्ष के घनिष्ठ सम्बन्ध से आध्यात्मिक विषयों में उनकी जिज्ञासा देखकर स्नेह बढ़ गया था। इस फाइल के बहुत से भाग प्रश्नोत्तर रूप में लेखों में आये हैं।

बीच-बीच में प्रियजनों के भी प्रश्न आते रहे, और उत्तर में जो उनको लिखता

रहा उनको भी लेख रूप में ढालकर छापने को भेजता रहा। पुराने पत्रों को भी संभाला। इस प्रकार ये लेख अब तक बनते चले गये और आगे के लिए तैयार होते चले जा रहे हैं।

अब तक ८८ लेख छप चुके हैं। इनको पुस्तकाकार में ले आने का मित्रों से आग्रह पाकर मैंने, और 'लोक-सेवा' के पाठकों से पाकर सम्पादक जी ने, पुस्तक तैयार करने का निश्चय कर लिया है। इस दिशा में कार्य आरम्भ किया जा रहा है। आगे के लेखों का दूसरा खण्ड जब समय आवेगा छपता रहेगा।

कुछ मित्रों के सुझाव पर कि इन लेखों की भाषा-शैली में थोड़ा हेर-फेर किया जाय, मैंने एक सज्जन के पास थोड़े से लेख भेज कर प्रार्थना की कि वे नमूने के तौर पर इस कार्य को करके मुझे बतावें कि यह सुधार कैसे किया जाय। जब संशोधित किये हुये वे लेख मेरे पास आये तब मैंने देखा कि भाषा क्लिष्ट हो गई है। जिस वर्ग के व्यक्तियों के काम के ये लेख हो सकते हैं, उनको भाषा की कठिनाइयों से सीधे-साधे विचारों का समझना सरल न रहेगा। दूसरे उसमें पराई कृति का भाग मिल जाने से अपनी पुस्तक में उसको काम में ले आने का मुझे अधिकार भी नहीं होना चाहिये, मैंने आगे का संशोधन वहीं त्याग दिया। एक श्री स्वामी जी के आग्रह से मैंने एक लेख कल्याण सम्पादक जी को गोरखपुर भेजा कि यदि वे इसको कल्याण में स्थान पाने के योग्य समझें तो कृपया इसे छापें। उन्होंने अगस्त १९६० के अंक में 'असंस्कारी को संस्कारी बनाना' शीर्षक से इसे छाप दिया। जब यह अंक मेरे पास आया तो मैंने अपने लेख से मिलाया और देखा कि कल्याण सम्पादक जी ने जो उसमें हेर-फेर करके छापा वह बहुत हलका होते हुए भी बड़ा सुन्दर था। कल्याण का वह अंक आने पर दो एक बार पढ़ने से जब मुझे यह व्यापा ही नहीं कि इसमें कुछ ऐसा हेर-फेर किया गया है जिसको मैं तुरन्त पकड़ सकूँ, किन्तु साथ-साथ संशोधन की सुन्दरता अवश्य दीखी तो मैंने अपनी प्रति पर उस को उतारा और देखा कि कुछ शब्द आगे से पीछे और कुछ पीछे से आगे और कुछ हिन्दी के समकक्ष रख कर संशोधन सुन्दर हो गया है। उसका नमूना सामने रख कर मैं स्वयं इस प्रकार के संशोधन में लग गया, यह निश्चय करके कि अन्य किसी बाहरी व्यक्ति के द्वारा यह कार्य करा लेना कठिन है। मेरी धर्मपत्नी, जिनका हिन्दी का ज्ञान योग्यता लिए हुए है, और जिनकी दोष निवारण वृत्ति स्वच्छ और तीव्र रहा करती है, मेरे इस कार्य में बड़ी सहायक रहीं, भाषा-शैली इस प्रकार बदल गई। लेखों को लिखते समय तथा

व्यक्तिगत विषयों को दूर करते समय जो शब्द साधारण बोल चाल का सामने आता रहता था और लिखते-लिखते जो विचार जिस क्रम में ध्यान में आता रहता था उसको उसी स्थान पर बैठा देने के प्रयत्न में, जिससे काटा कूटी से प्रति बची रहे, शैली बोल-चाल की ऐसी बनती रही थी। कल्याण सम्पादक जी का नमूना देखकर पुस्तक के लिए जो संशोधन आवश्यक समझा गया वह सब लेखों में अब कर लिया गया है।

पाठकगण इस प्रकार देखेंगे कि जिन पत्रों के विषय में कभी-कभी विचार हुआ करता था कि जो इतने परिश्रम से लिखे जाते रहे हैं, वे किसी दिन पूर्व अनुभव के समान दीमक के आहार बन कर नष्ट हो जायेंगे, उनकी रक्षा भगवत कृपा द्वारा स्वयमेव हो गई। उसी कृपा द्वारा मुझे अब और भी ४, ५ सहयोगी ऐसे मिल गये जिनकी पहले सहयोगियों के समान ही, छपाई के काम को प्रत्येक प्रकार से सफल बनाने में लगन और कार्य कुशलता देखकर मुझे उत्साह होता रहा है। मेरे मन में विचार हुआ कि मैं इस शुभ कार्य में अपना पूरा सहयोग देने से, चाहे कितना भी परिश्रम करना पड़ जावे, क्यों चूकूँ। इस धारणा से परिश्रम परिश्रम न रह कर एक अपूर्व सन्तोष और आनन्द का स्रोत बन गया है।

उपस्थित प्रश्नों और समस्याओं के उपयुक्त, लेखों की भाषा बोल चाल वाली चाहे मेरी हो, वह भी भगवान की दी हुई शक्ति द्वारा ही, परन्तु जो उपदेश उनमें व्यक्त हैं वे सब भगवान के कहे हुये हैं, अतः विशेषकर इस युग के अपने देश के नरनारियों के लिये उपयोगी होंगे। जिज्ञासु ही इनसे लाभ उठा सकते हैं।

ये उपदेश पढ़कर एक ओर रख देने के नहीं हैं। बार-बार पढ़े जायें, इन पर मनन किया जाये और जितनी सामर्थ्य जिसकी अपनी वर्तमान स्थिति में हो उतना उनको आचरण में लाया जाये और आगे के लिये अधिक शक्ति प्रदान हेतु निरन्तर हृदय तल से भगवान् की प्रतिदिवस प्रार्थना की जाये।

जो अपने से छोटे हैं तथा जो अनुभव में पीछे हैं उनके लिये ही ये लेख उपयोगी हो सकते हैं। ज्ञानी समुदाय यदि इनकी त्रुटियों को क्षमा करके कुछ प्रसन्नता इनमें अनुभव करेंगे तो जिज्ञासुओं के लिये वह मंगलकारी ही होगी।

लखनऊ

—सीकर

१६-६-१९६३

निवेदन

इस पत्रावलि में गीतामाता के द्वारा बखाने हुए वैदिक ज्ञान को अथवा भारतीय शास्त्रोक्त उपदेशों के भंडार को, दैनिक जीवन की स्वाभाविक और सामान्य घटनाओं में पिरोकर बोल चाल की भाषा में महाविद्यालयों के छात्रों और छात्रिकाओं के सम्मुख ले आने का प्रयास किया गया है, विशेष कर ऐसों के हितार्थ, जिनको भाषा तथा विषय की सूक्ष्मतापूर्ण कठिनाइयों से उत्पन्न अपने अमूल्य रत्नों की ओर दृष्टिपात करने के लिए एक प्रकार की अरुचि सी बनी रहती है। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता भगवत्कृपा द्वारा मिली है, इसका विवरण महापुरुषों तथा महानुभावों से प्राप्त संलग्न वक्तव्यों द्वारा जाना जा सकता है। इसी उद्देश्य से पुस्तिका में कुछ सम्मतियों को स्थान दिया गया है। आशा से प्रेरित होकर, निष्काम भाव सहित अपनी बानप्रस्थ अवस्था में अनुभव हीन अपने छोटों के हितार्थ, अपने कर्तव्य कर्म की पूर्ति में इन पुस्तिकाओं को ऐसा रूप देकर, अपनी स्वर्गीय माताजी की पुण्य-स्मृति में श्रद्धांजलि के साथ समर्पण करके छात्र-छात्रिकाओं के स्थानों में, तथा अन्य नवयुवक युवतियों के केन्द्रों में श्रद्धापूर्वक पहुँचा भर देने का संकल्प हुआ, आगे का कार्य भगवानाश्रित रहेगा ही। गीतामाता के उपदेशों में इतना बल समाहित है, कि विचारशील नर नारी एक बार उनकी ओर भाषा की सरलता से आकर्षित होकर दृष्टि डाल भर लें तो आगे की गति से विहीन वे रह ही नहीं सकते, ऐसी धारणा बन गई है। अतः सेवा भाव से प्रेरित होकर, इस प्रकार बनाई हुई इन व्यवस्थाओं को भ्रम से मेरी निरी महत्वाकांक्षा समझकर कोई तरुण पाठक या पाठिका, माता के इन परम जीवनोपयोगी उपदेशों से मुख कदापि न मोड़ें। कोई कार्य-हितैषी तक भी बिना किसी न किसी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोष के नहीं बन पाता है। अतः इसकी ओर से दृष्टि हटा कर मधुमक्खी के सदृश केवल पावन अमृत रस पान किया जावे।



ईश प्रार्थना

किसी का शोक दुनिया में अगर शोक हुकूमत हो, तो या मौला,
अपना शोक दुनिया में फ़क़्त बन्दों की ख़िदमत हो।

प्रस्तावना

गीतामाता के परम जीवनोपयोगी उपदेशों के विस्तृत प्रचार के लिए, अपनी स्वर्गीय माता की चतुर्वर्षीय पुण्यतिथि पर, मित्रों द्वारा लौटाए हुए पुराने खण्डों में से पाँच-पाँच छपे हुए भिन्न-भिन्न लेखों की १३०० पुस्तिकायें बनाते समय जो भूमिका लिखी थी, उसी को पुस्तक का पहला भाग 'लोक-सेवा' कालपी के छापने पर काम में ले लिया गया था। उसमें कोई हेर-फेर करना इस समय भी ध्यान में नहीं आता। प्रत्येक खण्ड में उसको लगा देना जिज्ञासु के लिए हितकर लग रहा है, अतएव उसको स्थान देना ही लाभदायक लगा। इसी प्रकार उस समय का लिखा हुआ 'निवेदन' भी।

इधर के तीन चार वर्षों में जो इस यज्ञ-कार्य में प्रगति हुई है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रस्तावना में जिज्ञासुओं को मिलेगा। पुस्तक की माँग बढ़ती देख, स्वार्थ रहित एवं अतिशय परोपकारी गीता प्रेस गोरखपुर से छपाई के सम्बन्ध में सहायक मित्रों एवं महानुभावों द्वारा पत्र व्यवहार होता रहा, जिसमें आशा निराशा दोनों का ही समावेश रहा। अन्त में एक दिन पूज्य श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार जी से अचानक भेंट हो जाने पर उन्होंने कुछ क्षणों में इस प्रश्न का समाधान करके पुस्तक की छपाई का कार्य श्री हितशरण शर्मा (डालमिया चेरिटेबल ट्रस्ट नई दिल्ली के सचिव) द्वारा आरम्भ करा दिया। इसी बीच श्रीस्वामी हरिहरजी महाराज, संस्थापक अध्यक्ष गीता-आश्रम दिल्ली केन्ट की असीम अनुकम्पा-भगवत्कृपा द्वारा अनायास प्राप्त हो गई और उन्होंने भी एक खण्ड को अपने प्रेस में छपने की आज्ञा दे दी। दोनों स्थानों में एक-एक खण्ड छप रहा है, आशा है जून मास तक दोनों खण्ड तैयार हो जावेंगे। आगे के पाँच खण्डों (पुस्तक के सात खण्ड किए हैं आर्थिक स्थितिमें निर्बल जिज्ञासुओं हितार्थ) का काम भविष्य में होते रहने की आशा है।

प्रत्येक खण्ड की दो हजार से अधिक प्रतियाँ छपने की व्यवस्था अभी नहीं हो पायी है, यद्यपि इस पर दो तीन विशेष महापुरुषों द्वारा अधिक बल दिया गया है। 'गीता माता की गोद में' नामक पुस्तक सम्बन्धी विस्तृत प्रचार रूपी यज्ञ शीर्षक वाले लेख में, जो 'लोकसेवा' कालपी ने अपने १२-२-६७ वाले नम्बर ३ अंक में लेख नम्बर १५४ छपा है, सारी व्यवस्था का स्पष्टीकरण करके गीता प्रेमियों से प्रार्थना की है, कि इस यज्ञ में

अपनी रुचि अनुसार आर्थिक आहुति द्वारा भाग लें, जिससे देश के हिन्दी भाषा-भाषी आधुनिक युवक समाज को अधिक से अधिक लाभ, पुस्तक के विविध समालोचकों की सम्मिलित सम्मति के अनुसार पहुँचाया जा सके। इस पुकार में कितनी सफलता मिलती है यह भगवान् की इच्छा पर निर्भर है।

इस प्रचार-यज्ञ में जो एक पक्षीय प्रयत्न द्वारा कार्यक्रम अब तक रहा है, उसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित लेख द्वारा लोक सेवा पत्र के पाठकों के पास पहुँच चुका है। लेख नं० १२३ शीर्षक केवल एक स्थिति विशेष में ही माता की ज्योति का प्रकाश मिलता है।' (इसका उत्तरार्ध भाग प्रथम भाग के दूसरे खण्ड में आवेगा) इस (प्रचार) की उपयोगिता अब तक सीमित ही रही है। परिधिका विस्तार अधिकाधिक बढ़ाने के निमित्त दानी सज्जनों का सहयोग आवश्यक है।

लोकसेवा के पाठकों के पास लेख दो ढाई वर्ष तक पहुँचते रहने के उपरांत उनमें से प्रेमियों के उद्गार लेखक के पास आना आरम्भ हुआ। इनसे उत्साहित होकर प्रचार कार्य में आस्था धीरे-धीरे बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप अब तक छोटी बड़ी सब प्रकार की सम्मतिओं की संख्या १७९ तक १५३ सज्जनों की अथवा ६ प्रान्तों के १९ समाचार पत्रों के सम्पादक महोदयों द्वारा लिखित पहुँच गई है। इनका उपयोग करने की प्रबल इच्छा स्वानुभव पर आधारित है। युवावस्था में स्वास्थ्य के खो जाने की असहाय दशा-जनित तीव्र जिज्ञासा में जर्मन डाक्टर लुइक्यूने की नवीन जल चिकित्सा नामक पुस्तक मुरादाबाद के श्री श्रोतीय जी के अनुग्रह द्वारा सौभाग्य से हाथ में पड़ी। उसमें देश-देशान्तरों के कठिन से कठिन रोग ग्रसित रोगियों की अनेक आत्म कथाएँ इस चिकित्सा द्वारा निरोगता प्राप्त कर लेने की पढ़कर श्रद्धा अनायास इतनी जागृत हो उठी कि उस चिकित्साके अंग प्रत्यङ्गों की साधना में धृति पूर्वक तीन वर्ष तक निरन्तर लगे रहने से खोया हुआ स्वास्थ्य अन्तमें भगवान् की दया और कृपा द्वारा प्राप्त कर लिया।

अतएव उपर्युक्त १५३ महोदयों के पाँच वर्ग इस प्रकार बनाए हैं:—

१. संन्यासी एवं अन्य महापुरुष वर्ग
२. अधिकारी वर्ग
३. शिक्षक वर्ग
४. (समाचार पत्र) सम्पादक वर्ग
५. सामान्य नरनारी वर्ग

व्यक्तियों के नामों की सूची अनुक्रमणिक रक्खी जिससे सुगमता रहे। उदाहरणार्थ प्रत्येक वर्ग के कुछ नाम यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

१. सर्व श्री स्वामी चिन्मयानन्द, चृषिह गिरि, प्राणानन्द, गोविन्द गिरि तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, राष्ट्र-कवि मैथलीशरण गुप्त, पूज्य श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार—इस प्रकार १३ नाम हैं ।

२. सर्व श्री ए० एन० खोसला, उड़ीसा, बी० एन० झा, नई दिल्ली, गोपालजी महरोत्रा, गोहाटी (आसाम), घनानन्द पांडे, रुड़की, एम० सी० विजावत, वाराणसी लालजी महरोत्रा, टोकियो (जापान), शंकर सरन, इलाहाबाद । इस प्रकार ४७ नाम हैं ।

३. सर्व श्री सद्गुरु शरण अवस्थी, कानपुर, गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', झांसी, दीवानचन्द, कानपुर, श्रीनारायण चतुर्वेदी, लखनऊ, डा० नगेन्द्र, नई दिल्ली, तथा जोधपुर, कलकत्ता, कुरुक्षेत्र, अलीगढ़, शान्तिनिकेतन, लखनऊ इत्यादि विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागके अध्यक्ष विद्वान—इस प्रकार ३५ नाम हैं

४. आज—काशी, उद्बोधन—कलकत्ता, प्रबुद्ध भारत—अल्मोड़ा, नवभारत टाइम्स—बम्बई व दिल्ली, वेदान्तकेसरी—मद्रास—इस प्रकार १९ पत्रोंके नाम हैं ।

५. सर्व श्री रामविलास दीक्षित, रायबरेली, बलदेवजी महरोत्रा, जौनपुर, मनसुखलाल दुवे, मैनपुरी, देवेन्द्रनाथ पाण्डेय रसाल, वाराणसी, एवं सर्व श्रीमती दीक्षित, लखनऊ, दास, लखनऊ, विमल भल्ला, दिल्ली, शीलापुरी, दिल्ली, सरला कपूर, लखनऊ, सरला महारा, बम्बई, सुमित्रा कृष्ण, दिल्ली, सुभद्रा पद्मरीया, राजकुमारी—इस प्रकार ३९ नाम हैं ।

कुल संख्या पाँचों वर्ग के नामों की १५३ । इन नामों को पाँच भागोंमें विभाजित किया है । प्रत्येक वर्ग में से नाम लेकर पहले भागमें ३१, दूसरे में २५, तीसरे में ३४, चौथे में ३८, पाँचवें में २५, कुल १५३ । प्रत्येक खण्ड में एक-एक भाग जोड़ दिया जावेगा जिससे जिसके हाथ जो खण्ड पड़े वह उसमें ऐसे सज्जनों के उद्गारों को देखकर जिज्ञासु तक बन जाय । शेष दो खण्डों के लिए आगे व्यवस्था की जावेगी । इन व्यवस्थाओं में ढिंडोरा पीटने का जो दोष आता है उसको सह लिया जाय, उससे झिझक जाना उचित नहीं । इस सम्बंध में लेख नम्बर ३६-शीर्षक-‘प्रचार कार्य की उपयोगिता’ देखने से आशय समझ में आयेगा । यह लेख पहले भाग के दूसरे खण्ड में छपेगा (नम्बर ३६) ।

स्वांतः सुखाय हेतु सेवा भाव से प्रेरित होकर बनाई हुई इन व्यवस्थाओं को निरी महत्वाकांक्षा समझकर कोई पाठक भ्रम में कदापि न पड़े । कोई कार्य-हितैषी तक भी किसी न किसी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोष बिना नहीं बन पाता, अतः इसकी ओर से दृष्टि हटाकर मधुमक्खी सदृश वह (पाठक) केवल अमृत रस खींचे—ऐसा ‘निवेदन’

में कहा गया है। यहाँ पर उन्हीं शब्दों को उद्धृत किया जा रहा है। प्राप्त (अनि-
वार्य) कीर्ति को ईश्वरार्पण के उपरांत, प्रसाद रूप में अदम्य साहस एवं उत्साह ग्रहण
करके, प्रचार कार्य को शुभाशीर्वाद सहित सम्मतियाँ देने वाले प्रेमियों, विद्वानों, एवं महा-
त्माओं की ओर से नियत किया हुआ पावन कर्तव्य कर्म समझ, तन मन धन अर्पण करने
की अभिलाषा को स्व एवं अपर सबके लिए कल्याणकारी मानने का उपदेश मिलता
है। इस मार्ग में जो गति अब तक प्राप्त हुई है, वह इन प्रसन्नता-पत्रों द्वारा ही
है, इनके आश्रय से ही पुस्तक जिज्ञासु समाज में अपना मार्ग शनैः शनैः बनाती जा
रही है। कर्तृत्वाभिमान से तो सदा दूर रहना ही चाहिए, कर्म पूर्णतया निष्काम
अतएव प्रभावशाली और चहुँ ओर कल्याणकारी तभी बन सकता है। किन्तु निर्वल
साधकके अधिकारमें केवल अभ्यास करना ही रहता है, पूर्ण निष्कामता तो सिद्धावस्था
है। अभ्यास के लिए सत्यासत्य का ही प्रयोग करने को मिलता है।

प्रचार कार्य संबंधी विस्तृत विवरण पूज्य श्री पोद्दार जी को एक विशेष
सज्जन की ओर से उनके आग्रह पर सीकर द्वारा लिखे हुए पत्र में, जो पहले भाग के
दूसरे खण्ड में (लोकसेवा में १६ नम्बर पर छपा हुआ मिलेगा) दिया हुआ है
जिज्ञासु वहाँ देखें।

छपे हुए लेखों की भाषा को 'कल्याण' के स्तर पर ले आने के प्रयास में चारों
भागों का संशोधन धर्मपत्नी जी के सहयोग द्वारा परिश्रम पूर्वक किया गया है।

कीर्तन के समय अभ्यास में आए हुए अधिकांश पदों को लेखों के अन्त में
भावना उत्पन्न करने हेतु जोड़ दिया गया है। अधिकतर तो उनकी संगति लेखों में
व्यक्त आशयों से मिलती है, कहीं-कहीं ऐसा नहीं भी हुआ है। भाषा संशोधन के समय
ये पद जोड़े गये हैं।

यज्ञ कार्य में संगठन व्यवस्थित रूपसे विद्यमान रहता है। इसकी महत्ता का
उपयोग करने हेतु जो व्यवस्था की है उसका स्वरूप—"गीता माताकी गोदमें" नामक
पुस्तक संबंधी प्रचार रूप यज्ञ, शीर्षक वाले लेख में, जो पहले भाग के दूसरे खण्ड में
मिलेगा (लोकसेवा में १८ नम्बर करके छपा)—दर्शाया है। इस विधि से प्रचार
कार्य का विस्तार स्वयंमेव सरलता पूर्वक बढ़ते रहने की आशा होनी चाहिए। पाठकों
के हृदयों में इसका मर्म बैठाने वाला परमेश्वर है।

नई दिल्ली,

११-४-६७

—सीकर

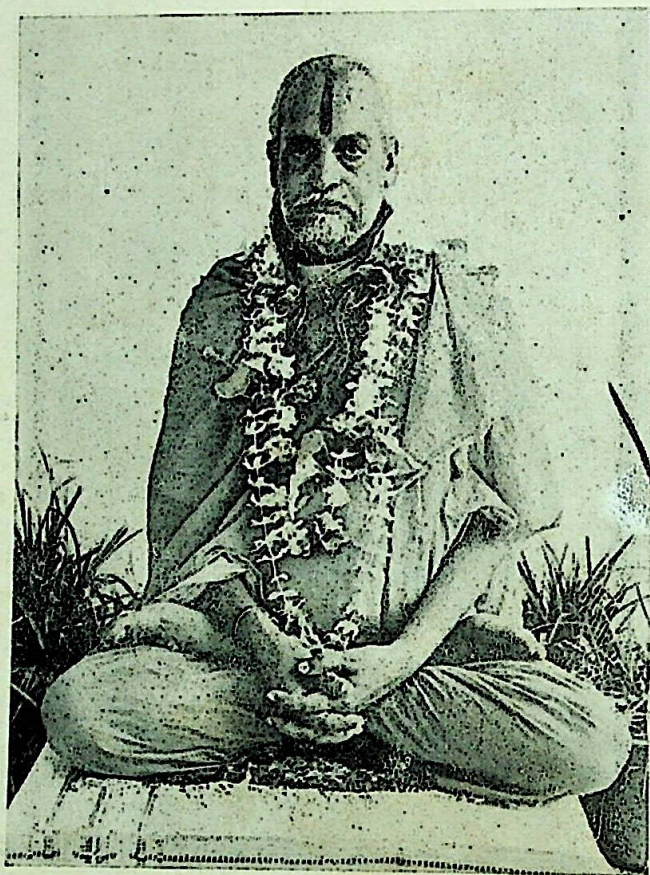
समर्पण

माता के चरण-कमलों में श्रद्धा,
भक्ति, विनय और
नम्रता पूर्वक
समर्पित

—सीकर



तारन तरन तिहारे चरन,
हे माँ सरस्वती !
तेरो ही त्रिभुवन प्रकाश,
करत हरि उर में सदा निवास ।
रमण जननी मोक्ष दायिनी,
वाणी करन कष्ट हरन ॥



गीता आश्रम दिल्ली के संस्थापक
स्वामी श्री हरिहरजी महाराज

श्री गीता आश्रम दिल्ली केन्ट के सस्थापक अध्यक्ष श्री १०८ स्वामी
हरिहरजी महाराज (जिनकी देवी सामर्थ्य द्वारा देश के विभिन्न
स्थानों में लगभग १५० गीता आश्रम खुल चुके हैं) का

दिव्य संदेश

भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र धर्म है, इस धर्म शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है, भारतीय जीवन की ऐसी कोई भी दिशा नहीं, जिस पर धर्म का प्रभाव न हो। आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि व्यापार पशुओं में भी पाये जाते हैं। मनुष्य को पशु से पृथक् करने वाला तत्त्व है धर्म। धर्म के सहारे ही जीवन सुख रूप बन सकता है। उस धर्म का सच्चा स्वरूप यदि कहीं मिल सकता है तो वह है गीता। गीता अनेकता में एकता के दर्शन कराकर विश्व धर्म की शिक्षा देती है।

भौतिकवादियों का कहना है कि गन्, ग्रेन और गोल्ड (Gun, Grain & Gold) अर्थात् अस्त्र, अन्न और स्वर्ण ही उनके उद्धार का आधार है। आतुरता से उन्हें जुटाने में लगे हुए हैं, और यही कारण है उनके अशान्त जीवन का। किन्तु आध्यात्मवादियों का कहना है कि गाइड, गार्जियन एण्ड गॉड अर्थात् गीता, गुरु और भगवान उनके उत्थान का आधार है। एक शब्द में यदि कहा जाय तो गीता ही संसार की सर्वोच्च उन्नति का सर्वश्रेष्ठ आधार है। इसके बिना विश्वकी उन्नति सम्भव नहीं, अतः इसके प्रचार एवं प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है।

गीता भगवान के मुखारविन्द की अमर वाणी है जो चिर पुराणी होकर भी चिरनूतन है, पुस्तक रूप में विनाशी होकर भी शब्द ब्रह्म के रूप में अक्षय अविनाशी और अव्यय है, आध्यात्मिक होकर भी सदा व्यवहार प्रधान है। आबाल ब्रह्मचारी, बनिता, आस्तिक, नास्तिक, गृहस्थी, राज-नीतिज्ञ तथा संन्यासी आदि सभी का गीता सुन्दर मार्ग दर्शन करती है।

यही कारण है कि गीता का अनुवाद सभी भाषाओं में हुआ और फिर भी होता ही जा रहा है। किन्तु जितनी ही व्याख्या हो रही हैं वह उतनी ही दुर्ज्ञेय बनती जा रही है। उसके लिए एक ऐसे भाष्य की आवश्यकता है जो शब्दतः गीता से दूर होकर भी अर्थतः तथा भावतः गीता ज्ञान को जन-जन के मानस में उतार सके। जो केवल शास्त्र का विषय न रह कर व्यवहार का सीधा साधा रूप हो, जो आख्यान, व्याख्यान, निबन्ध, कहानी, कविता एवं मनोरंजन के रूप में भगवान की अमर वाणी का प्रसार कर सके, जिसकी भाषा केवल संस्कृत के महारथियों के मस्तिष्क की उपज न होकर सर्वसाधारण के बोल-चाल की सादी भाषा हो। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति होती है श्री सीकर जी की 'गीता माता की गोद' से। सचमुच इस भाष्य के अमृत दुग्ध का पान कर जनता त्रिविध दुःखों से छुटकारा पा जायगी। मेरा आशीर्वाद है सीकर जी की वाणी के माध्यम से गीता का उपदेश घर घर फैले।

श्री गीता आश्रम, १० सबर बाजार

दिल्ली केण्ट

१६-४-६७

—स्वामी हरिहर

विश्व माता रूपी गीता की वन्दना में

गीते तुम्हारे ज्ञान की अव्यक्त महिमा को अहा,
रणक्षेत्र में श्री कृष्ण ने स्वयं अर्जुन से कहा।
जिन साधनों की सिद्धि से था पात्र को सत्पथ दिखा,
भगवान वेद व्यास ने उस पर महाभारत लिखा।
अध्याय अष्टादश सुखद करते दुःखों से मुक्त हैं,
अद्वैत अमृत वारिधर से वे सदा ही युक्त हैं।
हो मातु समहित पूर्ण कहते मोक्ष का कारण तुम्हें,
अतएव मैं नित शुद्धमन से कर रहा धारण तुम्हें।
सब उपनिषद हैं धेनु के ही तुल्य दोग्धा श्याम हैं,
वे पान करते वत्स अर्जुन के सदृश सुख धाम हैं।
हैं भक्त जो अन्तः करण से नित्य करते ध्यान हैं,
करते वही गीता सुधा का प्रेम से नित पान हैं।

अवतार तत्व

जिज्ञासा :—भगवान को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है । जब सर्वशक्तिमान है, तो बिना अवतार लिये क्या वह काम नहीं चला सकता ।

उत्तर :—भगवान, विश्व चक्र को उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राकृतिक नियमों द्वारा, जो उस लोक महेश्वर त्रिलोकी नाथ के स्वयं निर्माण किये हुये हैं, पूर्णतया चलाने में कैसे समर्थ हैं, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण से साधारण बुद्धि वाले मनुष्य को भी, थोड़ा ही विचार करने से हुये बिना नहीं रह सकता । आकाश में सूर्य, चन्द्र, तथा अनन्त तारागणों की नियमित गतियाँ, माता-पिता के रज वीर्य से प्राणी मात्र की उत्पत्ति, बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा, वृक्ष, और फिर फूल, फल, और एक से अनेक वैसे ही बीज, इन उदाहरणों को जितना चाहो बढ़ाते जाओ । ऐसे सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान परमेश्वर के विषय में यह शंका हो ही नहीं सकती कि उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य हो जावे, जिसकी स्थिति के अनुसार आवश्यकता ही न हो । मनुष्य अपनी अज्ञता में चाहे जो कुछ सोचा करे, परन्तु किस समय किस बात की क्या आवश्यकता है, इसको पूर्णरूप से भगवान के अतिरिक्त और कौन अपनी अल्प बुद्धि में जान सकता है । मानव-उद्धार, मनुष्य रूपधारी परमेश्वर द्वारा ही, होना शक्य है ।

संसार में मानव-जाति युग-युगान्तर से, ज्ञान चक्षुओं द्वारा जो कुछ देखती व समझती आई है, उसके आधार पर ईश्वरीय नियमों की खोज हुई है और आगे सदा होती रहेगी । जब-जब धर्म का लोप होकर अधर्म फैलता गया, तब-तब इस संसार में ऐसे अतुलवीर्यवान पराक्रमी पुरुषों की उत्पत्ति होती रही, जिन्होंने, अपनी आन्तरिक ज्योति और बल द्वारा अन्धकार का नाश करके, धर्म का प्रकाश चतुर्दिक फैला दिया । ऐसे पुरुष स्थावरों में हिमालय, स्रोतों में गंगा, पशुओं में सिंह के समान हो गये हैं; भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसामसीह, मोहम्मद इत्यादि ।

कोहनूर से लगाकर साधारण हीरा, कोयले की जाति का होने पर भी एक अपनी निराली ज्योति व आभा से परिपूर्ण है। यों तो घट-घट में ईश्वर विराजते हैं, परन्तु जिस मनुष्य का हृदय जितना पवित्र विशुद्ध होकर सर्वभूतहितेयत्व से ओत-प्रोत होता है, उतनी उसकी आन्तरिक शक्ति में अतुलता विराजती है, और समाज, जाति, देश, संसार का हित उसके द्वारा होता रहता है। यही उसका अवतारत्व है।

अधर्मी युग के कष्टों से दुखित जन समाज की समष्टि भावनाएँ, उस युग के महा महान शरीरधारी व्यक्ति का स्वरूप धारण करके, प्रकट होती हैं और उसी के द्वारा उस नष्ट हुये धर्म की पुनः स्थापना, संसार के कल्याणार्थ उद्धार मार्ग का उद्घाटन एवं दुष्कृत्यों का विनाश, और साधुओं का परित्राण।

ऐसे अवतारी पुरुष के सम्पूर्ण कर्म निःस्वार्थ और असंग भाव से युक्त, परमार्थ हेतु, दिव्य तो होते ही हैं परन्तु उसका जन्म भी दिव्य, ऐसा, जैसा संसार में युगान्तर में प्रचलित हो जाता है। कल्पना, श्रद्धा और विश्वास का क्षेत्र बन जाती है। जब कन्दराओं में तप करने वाले योगियों को अद्भुत सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जैसा भारतवर्ष में विख्यात है तो सर्वशक्तिमान परमेश्वर के विषय में मन में यह विचार आना, कि प्राकृतिक नियमों के विपरीत उसका अवतार हो ही नहीं सकता, कहाँ तक सारयुक्त है। इसी प्रकार उसके अतुल बल की सीमा से विचलित होकर शंका में डूब जाना श्रद्धा-हीनता ही तो कही जावेगी। इस युग के अवतारी पुरुष महात्मा गांधी ने आत्मबल का उदाहरण तो संसार को दिखा ही दिया। शारीरिक बल के उदाहरण, जो भगवान राम और कृष्ण की लीलाओं में युगान्तर से सुनने में आते रहे हैं, वे कितने काल्पनिक व श्रद्धा-धारित हैं, और कितने वास्तविक, इसकी गणना करना निरर्थक हैं। उनके कर्म दिव्य हुये हैं, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित सत्य है। उनके मुखारविन्द से निकले हुए वाक्य संसार के लिए, पथ प्रदर्शक रूप में शास्त्र बनकर विद्यमान हैं, और उनके चरित्र निर्दोष और समभाव से प्रकाशमान हैं। कर्म दिव्य हुये हैं अतः वे भगवान रूप हैं। भगवान हैं, इसलिये उनके लिये कोई बात-असम्भव नहीं। इस तर्क से सारा संशय निर्मूल हो जाता है।

ऐसे अलौकिक जन्म के उदाहरण इस युग में देखने में नहीं आते,

यह तर्क युक्ति युक्त नहीं। आकाशवाणी, आकाशगमन को ५० वर्ष पहिले कौन सत्य मानता था ? फिर दिव्य जन्म तो समय की स्थिति के अनुसार उसके साधनार्थ होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य ईश्वरीय रहस्यमय नियमों की खोज में, अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा, सफल होता है, उसको यह निश्चय हो जाता है कि चाहे उसकी बुद्धि वर्तमान काल में एक विशेष युक्ति को ग्रहण न कर सके, परन्तु यह धारणा, कि अमुक बात संसार में असम्भव, है सत्य ज्ञान के विरुद्ध है।

साधारण व्यक्ति, अपने पूर्व जन्मों के कर्मों से बँधा, उनके फल भोगने को जन्म लेता है। परन्तु भगवान के पूर्ण अवतार में इस नियम का सम्बन्ध ही नहीं। वे तो अपनी इच्छा से 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' प्रकट होते हैं, साथ, भक्तों में भक्ति भाव उज्ज्वल करने के निमित्त भी। निराकार ब्रह्म की उपासना में बड़ा परिश्रम है। विशेष व्यक्ति ही, उसका अधिकारी होकर, उसमें तन-मन से लग सकता है, यह ज्ञान मार्ग पूर्व संस्काराश्रित है। किन्तु ज्ञान विज्ञान युक्तभक्ति मार्ग सरल और प्रत्यक्ष फल देने वाला है। अवतार-विश्वास के मूल में यही तत्त्व विद्यमान है।

भगवद्गीता एक अद्भुत ग्रंथ है। इसकी विलक्षणता, भगवान कृष्ण के अवतार होने का प्रबल और प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसमें वर्णित सारा विषय अति गम्भीर, नितान्त सत्य, कालातीत, विश्वव्यापी, पूर्ण और मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। संभव है जैसी किम्बदन्ती है कि भगवान वेद व्यास ने गीता के श्लोक उस युग के एक महा प्रतापी पुरुष के मुख से कहलाये हैं, और उन्होंने, साधारण मनुष्यों के हितार्थ, आध्यात्मिक विषयों के गूढ़ तत्वों को उनकी असाधारण लीलाओं और चरित्रों का रूप देकर, पुराणों का निर्माण किया, जिससे उनकी महिमा जगत में फैले, अद्भुतों में भक्ति भाव बढ़े और ज्ञानियों में गूढ़ तत्वों का प्रकाश। इसी प्रकार भगवान राम, महर्षि वाल्मीकि के प्रदर्शित किये अवतार हों। कुछ भी हो, लीलार्थ वास्तविक हों, या इन दोनों महर्षियों की केवल कल्पित रचनार्थ हों, परन्तु जो भी तत्व दर्शाए गये हैं वे अवतारों के योग्य ही हैं। अतः इनको पूर्ण अवतार मान लेने में भक्ति परायण मनुष्य को लेशमात्र शंका नहीं हो सकती। इनके बताये मार्ग का अनुसरण करने से नरनारायण बन जाता है।

अवतारी पुरुष के केवल शरीर की पूजा ही सार नहीं। प्रिय से प्रेम उनके गुणों के आकर्षण का स्वरूप लिये होता है। स्वार्थी, अवतार के अनेक प्रकार के दानत्व का भिखारी रहता है, तो ज्ञानी, अर्थात् ज्ञान विज्ञान युक्त भक्ति मार्ग का अनुयायी उसके प्रति निःस्वार्थ प्रेम की सदा भीख माँगते हुए मुक्ति मार्ग के शिखर पर आरूढ़ हो जाने की आशा रखता है।

काल्पनिक वस्तु की महिमा कल्पित होते हुए भी उपयोगिता से महान हो जाती है। समय एक कल्पना मात्र ही तो है, इसी प्रकार कलेण्डर, परन्तु उससे सारे संसार के कार्य देश देशान्तरों में कैसे नियमित रूप से चलते हैं। रेलगाड़ी, जलयान, वायुयान, इतिहास, ज्योतिष इत्यादि विद्यायें, समय और कलेण्डर के ही आश्रित रहते हैं। दूसरा उदाहरण राष्ट्रीय झण्डे का, जो वीरों को प्रोत्साहित करके उनसे सर्वस्व निछावर करा लेता है। काल्पनिक हो या वास्तविक, अवतार से सम्बन्ध जोड़ना जीव का ब्रह्म में लीन होने का मार्ग है, इसमें सन्देह नहीं करना।

परमेश्वर सर्व व्यापी सब घटयामी है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अवतार कहा जा सकता है। हीरा निरा कोयला है, तथापि कोयले और कोहनूर में कितना अन्तर। यही नहीं हीरे-हीरे में कितना अन्तर। पापी, मूर्ख, आसुरी प्रकृति के तामसी स्वार्थीजन, कोयले के समान, जलमय जीवन व्यतीत करते हैं। दैवी सम्पत्ति वाले पुरुषों में, हीरे के समान, ज्योति होती है और जो जितना प्रकाशमान होता है, उतनी ही उसकी श्रेणी अवतारों में उच्च होती है। पूर्ण अवतार की महिमा सर्वभूतहितैरतत्त्व के नाते अपार होती है।

आदि से ही सर्वभूतहितैरतत्त्व का गुण, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, गुणातीत, कर्म बन्धन के परे, परम पुरुष का ही हो सकता है। अतः उसका जन्म कैसे भी अलौकिक अप्राकृतिक विधि से हो इसमें, कुछ असम्भवता नहीं। समय की जैसी माँग हो वैसी ही विधि से वह, सर्व-शक्तिमान होने के नाते, अवतरित हो सकता है। इस माँग को वह त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ स्वयं ही जानता है। अल्पज्ञ की क्या विसाँत ?

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। जिज्ञासा व भावना पूर्वक अपनी आन्तरिक शक्ति का विकास, जिस सीमा तक वह चाहे पुरुषार्थ द्वारा कर सकता है।

उसकी भावना में ही अवतार का अवतारत्व व्यवस्थित है। आत्मोन्नति के शिखर पर चढ़ने के लिये, उसको निर्दोष सम दुद्धि वाले महान से महान ऐतिहासिक तथा स्वकालीन परम पुरुष की उपमा अपने नेत्रों के सामने रखनी होती है। जिस महापुरुष में तत् तथा तदन्तरकालीन जगत की संभूत असंभूत ध्येय युक्त भावना भर जाती है वही अवतार कहाने योग्य हो जाता है।

एक ओर अपार श्रद्धा और विश्वास तथा दूसरी ओर विश्वकल्याण कार्य में स्व का सर्वस्व समर्पण—यही अवतार तत्व के मूल में समझना चाहिये।

भिन्न-भिन्न सिद्धांतवादी भिन्न-भिन्न अवतारों में श्रद्धा रखते हैं। किन्तु गीता शास्त्रानुसार यह सब अवतार ही हैं, यद्यपि अपनी-अपनी श्रेणी के।

अधर्म फैलता है हृदय की अपवित्रता से। जब मानव हृदय शुद्धि अवतारी का ध्येय है, और वह इसी को लेकर प्रगट होता है, तो मनुष्य शरीर धारण के अतिरिक्त दूसरा उपाय और क्या होगा, यह ध्यान में नहीं आता। मनुष्य रूप में अवतरित होकर अधर्म का नाश और धर्म की पुनः स्थापना यही भगवान का अवतार कार्य है।



अच्युतं, केशवं, रामनारायणं,
कृष्ण दामोदरं, वासुदेवं हरे।
श्रीधरं साधवं गोपिका बल्लभं,
जानकी नायकं, रामचन्द्रं भजे ॥

ईश्वर को पत्र लिखने में न कागज चाहिए न
कलम—दावात न शब्द। उस पत्र का नाम है—
प्रार्थना, पूजा।

(२)

असंस्कारी को संस्कारी बनाना

प्रश्न—क्या गुरु कृपा असंस्कारी को संस्कारी बना सकती है।

गुप्तार घाट पर श्री किशोरी जी के सामने एक दिन यह प्रश्न उपस्थित करके प्रार्थना की गई कि कृपा कर वे इस पर कुछ प्रकाश डालें।

उत्तर में यह वाक्य सुनने में आया कि 'गुरु कृपा क्या नहीं कर सकती।'।

तुरन्त विचार आया कि अपना आशय ठीक-ठीक समझा देना चाहिये।

ईश्वर को सर्व शक्तिमान मान कर यह कहते नहीं बनता, कि वह पत्थर को क्षण में हीरा नहीं बना सकता; परन्तु क्या मनुष्य देहधारी गुरु में यह सामर्थ्य होती है कि वह एक असंस्कारी में अध्यात्म ज्ञान उड़ेल दे।

असंस्कारी व्यक्ति में न तो श्रद्धा, न जिज्ञासा और न पुरुषार्थ करने की ही शक्ति। वह गुरु की चाह केवल उस दरिद्री के समान करता है, जो किसी दूसरे दरिद्री को पूर्व संस्कार अर्थात् भाग्योदय होने पर, क्षण में अतुल धन लौटरी Lottery द्वारा प्राप्त होते देख, ईर्ष्या व तृष्णा वश, चाहता है, कि कोई ऐसा गुरु मिल जाय, जो क्षण में भाव भर मुझे भी वाल्मीकि के समान पार लगा दे।

ऐसे व्यक्ति के लिये तो गुरु कृपा की शून्यता का उत्तर ही भला, उसकी आशा भूठी। वह व्यर्थ के भ्रम में पड़ कर अपनी आयु न गवावे, उसके लिये तो भ्रम नाशक उत्तर ही उपकारी होगा।

सम्भव है कि चारों ओर से निराश होने पर उसकी दृष्टि स्वावलम्बन की ओर जाय, और जो समय वह भूठी आकांक्षा में लगाये है उसे अभ्यास में लगाकर अपनी उन्नति का मार्ग ढूँढ़े। जो कुछ इधर-उधर से उसे

सीख मिले, अपने विवेक द्वारा अभ्यास में और इस प्रकार शनैः- शनैः अपनी पात्रता बढ़ावे, निपुण गुरु की बाह्य कृपा का अपने को अधिकारी बनावे, और कठिनाइयों के उपस्थित होने पर उनके निवारणार्थ सद्गुरु के दर्शन हो जाने की आशा रखे ।

सद्गुरु का अभाव किसी युग में नहीं होता । अधिकारी के पास गुरु स्वयं आते माने गये हैं । वे कृपा और दया के सिन्धु होते हैं । इस धारणा से एकनिष्ठ हो, जैसा जो कुछ भी अभ्यास बने उसमें लगे रहना, व्यर्थ ही आकांक्षा से कहीं अधिक लाभकारी प्रतीत होता है ।

मनुष्य अपनी स्थितियों से बँधा हुआ रहता है । इच्छा होते हुये भी वह उनको लांघने में असमर्थ रहता है । बलपूर्वक यदि किसी को लांघता भी है, तो ऊपर उठने की अपेक्षा नीचे गिरने का भय ही खड़ा हो जाता है । भय ही नहीं गिरने भी लगता है । विवेक उसको सचेत करता है कि निरे बल का प्रयोग अच्छा नहीं, आत्मबल की न्यूनता में दूसरा बल क्या कर सकता है ।

अभ्यास को ही परम मंत्र समझ यदि उसमें लगा रहे, तो प्रायः बहुत सी त्रुटियाँ, अभ्यास से स्वयं दिखने लगेंगी । अभ्यास से बुद्धि में स्वाभाविक विकास होता है । त्रुटियों के कारण गति में न्यूनता अथवा स्थिति में गति हीनता देख, साहस में कमी न आने दे, श्रद्धा रूपी स्तम्भ का सहारा पकड़े रहे । ऐसी अवस्था में गुरु का सहयोग भगवदनियमानुसार किसी न किसी रूप में अवश्य मिलेगा और उसकी त्रुटियों का निराकरण होगा ।

सारांश—अपने ही विवेक द्वारा बने कार्यक्रम की प्रारम्भिक अवस्था में प्रवेश बिना इस आशा में पड़े रहना कि मुझ पर गुरु कृपा होगी, असंस्कारी का व्यर्थ में अपना समय नष्ट करना है । कर्तव्य कर्म में प्रविष्ट होकर गुरु कृपा की आशा रखे । दोनों के संयोग से ही सिद्धि का रास्ता मिलेगा ।

सद्गुरु के पास युक्तियों का भण्डार रहता है । संयोग होने पर, सद्गुरु, असंस्कारी में प्रारम्भिक संस्कार उत्पन्न करने को उन युक्तियों का, जो उसके लिये अनुकूल और उचित होगी दया और कृपा भाव द्वारा उपयोग

करेगा, जिससे उस (असंस्कारी) की पात्रता बढ़ेगी और गुरु शिष्य के सम्बन्ध की स्थापना होगी। चक्र चलने पर गति आना अनिवार्य होगा।

शास्त्र में, ऋषियों के अनुभव द्वारा प्राप्त तत्त्वों, विधियों तथा अन्यान्य सात्त्विक विषयों का संग्रह होता है। इस पर दृढ़ श्रद्धा होने से गति की न्यूनता देख, त्रुटि की ओर दृष्टि स्वयं जाती है, और यदि यह पकड़ में नहीं आती तो गुरु खोज का विचार आने लगता है। यह मनोयोग सद्गुरु को खींच लाता है। साधक इसको ईश्वरीय नियम समझे।

शास्त्र के उपदेशों की सात्त्विकता में इतनी आकर्षण शक्ति समाई रहती है, कि मनुष्य का मुख जिस उपदेश की ओर हो जाता है, वह उसके अभ्यास में स्वयं धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। बुद्धिमान उपदेशक का यह मुख्य कर्तव्य है, कि वह अहम्भाव से दूर रहे व शास्त्रोपदेशों की पवित्रता बनाये रखे। उन्हें अपने अहम्भाव से दूषित कर दूसरों के पास कभी न पहुँचावे। एक ओर हितप्रेरणा से उपदेश और दूसरी ओर यदि अहम्भाव की गंध, तो उपदेशक का प्रभाव अधिकांश नष्ट हो जाता है। इस विषय में बड़ी सावधानी वर्तनी चाहिए। न कि केवल इस बात से अपने को संतुष्ट माने कि मैंने अहम्भाव दूर कर दिया, किन्तु यह भी निश्चय करे, कि जिस को शास्त्रोपदेश दिया उसकी तुम्हारे अहम्भाव के प्रति क्या धारणा है। वास्तविक हित तभी होगा, जब उसकी श्रद्धा तुम्हारी निस्वार्थता तथा निरहंकारता की ओर बनी रहे।

शास्त्र विधियों के वर्णन में हानि तभी होगी, जब मनुष्य अहंकार पूर्वक कहेगा। प्रसंग आने पर अपने अनुभव सत्यतः प्रगट करने में तो परस्पर श्रेय की ही भावना रहेगी, यदि मनुष्य अहंकार तथा स्वार्थ साधन के विकारों से दूर रह कर करेगा। वृत्ति में न्यूनाधिक समानता होने पर भी यदि वह परस्पर के संवाद में भिन्नकता है, तो विचारों की दृढ़ता में कमी ही संकोच का कारण होगी, यदि अहंकार व स्वार्थ के भाव न भी हों। आत्म विश्वास की निर्वलता भी एक बड़ा दोष है। अहंकारी या स्वार्थी जहाँ अनुपयुक्त अवसर पर अधिक बोलता है, संकोची अवसर प्राप्त हो जाने पर भी चुप रहता है। अतः दोनों दोष त्याज्य हैं। उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त कर्म से ही सब ओर की श्रेय-साधना होती है।

भगवान के कथनानुसार शास्त्र ज्ञान के प्रचार द्वारा मनुष्य ईश्वर का प्रेम पात्र बनता है। इस कार्य में अहंकार की जड़ यदि मिटती न भी दिखे, तब भी इस हानि की ओर दृष्टिपात न करके, साधक अपने को ईश्वर के प्रेम रूप लाभ का अधिकाधिक अधिकारी बनाने में लगा रहे, इससे अंत में अहंकार की जड़ का नाश हुये बिना न रहेगा।



संत परम हितकारी जगत माही ॥

प्रभुपद प्रगट करावति प्रीति, भरम मिटावत भारी ।

परम कृपालु सकल जीवन पर, हरि सम सब दुख हारी ॥

त्रिगुणातीत फिरत तन त्यागी, रीति जगत से न्यारी ।

ब्रह्मानंद सन्तन की सोंबत, मिलत है प्रगट मुरारी ॥

गोविन्द मेरी यही प्रार्थना है, भूलूँ न मैं नाम कभी तुम्हारा, ✓

निस्काम होकर दिन रात गाऊँ, गोविन्द दामोदर माधवेति ।

गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥

✓ सच्चे सखा हैं हरि ही हमारे, माता पिता शील सुबन्धु प्यारे,

भूलो न भाई दिन रात गाओ, गोविन्द दामोदर माधवेति । गोवि० ॥

प्यारे जरा तो मन में विचारो, क्या साथ लाये और ले चलोगे,

जावे वही साथ सदा पुकारो, गोविन्द दामोदर माधवेति । गो० ॥

✓ नाता भला क्या जग से तुम्हारा, आए भला क्या करने विचारे,

सोचो विचारो हरि को पुकारो, गोविन्द दामोदर माधवेति । गो० ॥

ले मथानी दधि को विलोती, गाती मधुर गीत मुख से बखानी,

प्यारी मथानी यह गीत गावे, गोविन्द, दामोदर माधवेति । गो० ॥

देहान्त काले तुम सामने हो, बंसी बजाते मन को लुभाते,

गाते यही गीत तननाथ त्यागे, गोविन्द दामोदर माधवेति । गो० ॥

(३)

विधि में सत्य और अहिंसा का प्रयोग

प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य वह वस्तु है जो उसका स्वाभाविक अद्वानुसार उसका मन व बुद्धि ग्रहण करे, ग्रहण करके वाणी द्वारा निर्भयतापूर्वक उसको कहे, और तदनुसार आचरण में लावे। यदि थोड़ी भी असमानता बुद्धि, मन, वाणी, तथा परस्पर के आचरण में होगी तो वह तुरन्त असत्य हो जायगा। जैसा देखे सुने, समझे वैसा ही कहे, और उसी के अनुसार कर्तव्य करे। वास्तविक सत्य से दूर होते हुए भी, ऐसे अभ्यास से उसके अन्तःकरण की शनैः शनैः शुद्धि होगी, फलतः अन्तर्ज्योतिका प्रकाश पाकर वह सत्य के समीप पहुँच जावेगा।

जिस स्थिति में जैसा प्रतीत हो, उसके अनुसार ही बोलने और आचरण करने के साथ, यदि वह अहिंसा से दूर है तो उसके सत्य का बल उभरता नहीं। उस की महिमा जाती रहती है, मन बुद्धि दूषित होकर भविष्य में उसको सत्य से विमुख ही करेंगे। इस प्रकार वह विनाश की ओर बढ़ेगा।

अहिंसा का सूक्ष्म अर्थ है मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्राणी को उत्तेजित न करने की चाह रखना, और चाह के अनुसार ही सदा व्यवहार करना। दूसरे की ओर से उत्तेजना मिलने पर भी अपने अन्तःकरण की समता को भंग न होने देना।

सत्य और अहिंसा का जब ऐसा सुसंगठित प्रयोग होता है, तब इस के अतुल्य बल की महिमा प्रत्यक्ष में आये बिना न रहेगी। विपक्षी के अन्तःकरण में इस बल का ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ता है, कि वह अपनी अशुद्ध स्थिति को त्याग कर शुद्धि की ओर बढ़ने में विवश होता है, और अन्त में सत्य की विजय होती है।

परस्पर के भेद तथा भेदों द्वारा उपस्थित परिस्थिति के कष्टों से निवृत्ति पाने के इच्छुक को यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिये, कि किसी भय द्वारा वह विपक्षी के प्राकृतिक स्वभाव को कदापि नहीं बदल सकता, चाहे भय से उसको थोड़ा बहुत अस्थिर लाभ भले ही दिखे। स्वभाव में परिवर्तन आन्तरिक प्रेरणा के अतिरिक्त और किसी बल से नहीं होता वह भी शनैः शनैः। इस आन्तरिक प्रेरणा को जाग्रत करने में केवल सत्य और अहिंसा का अतुल्य बल ही उपयोगी रहता है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। इसीका दूसरा नाम प्रेम व परहित तत्परता है। इसी के द्वारा दोनों ओर का वास्तविक हित सधता है।

सत्य बोलने से कभी न रुके, परन्तु उसमें अपने मन का विकार लेत्र मात्र भी न मिलने पावे। यही सत्य और अहिंसा का प्रयोग है। 'सत्यम् ब्रूयात् अप्रियम् न ब्रूयात्' तभी 'सत्यम् जयति नानृतम्।' अप्रिय वही है जिसमें अपने मन का विकार मिला होता है। दूसरे के मन पर किसी का क्या अधिकार। यदि दूसरा उस सत्य और अहिंसा को असत्य और हिंसा तत्काल माने तो भी प्रयोगों के अपनी स्थिति में अटल रहने से जो बल मिलेगा उसका ऐसा सूक्ष्म प्रभाव विपक्षी पर पड़ेगा, कि उसकी बुद्धि ठिकाने आ जावेगी।

इस कल्याणकारी नियम में पहले दृढ़ विश्वास व श्रद्धा होनी चाहिये। महात्मा गांधी ने अधिकाधिक प्रयोग करके इसकी महिमा आधुनिक संसार को प्रत्यक्ष दिखा दी। छोटी बड़ी सब परिधियों में प्रयोग करके मनुष्य अपनी इस अपूर्व शक्ति का अनुभव कर ले, सन्तान के पालन पोषण में, स्त्री पुरुष के स्वाभाविक भेदों में अभेद उत्पन्न करने में, तथा जन समुदाय के प्रति अपने व्यवहार द्वारा शान्ति स्थापित करने में, इत्यादि इत्यादि।

शिशु का हृदय निर्मल होता है जिस कारण सत्य को शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति उसमें स्वभाव से ही तीव्र होती है। वह मनुष्य के हिये को पहचानता है। आवेश में कही बात व व्यवहार को वह प्रेम और शान्तिमय व्यवहार से पृथक् देखता है। उसी से प्रभावित होकर उसका नव हृदय अच्छे बुरे संस्कार ग्रहण करता है। अतः हितैषी माता-पिता को चाहिये कि अपनी सन्तान के सामने तथा उसके प्रति अपने मन के किसी विकार

को भी बल न पकड़ने दें । सन्तान का हित उनको अपने विकारों पर अधिकार प्राप्त करने का मार्ग इस प्रकार दिखाता रहेगा, स्वार्थ क्रोध इत्यादि दोष वृत्तियाँ सिर उठाने से दबी रहेंगी । परिवार में शान्ति, सुख और आन्तरिक प्रकाश का अनुभव होगा, जिससे वर्तमान और भविष्य में सबका कल्याण ही कल्याण होगा ।

प्रत्येक दम्पति को देश प्रेम के नाते अपनी संतान को प्रत्येक प्रकार से योग्य बनाने के प्रयत्न में सत्य, अहिंसा, आत्मसंयम, साहस, तथा उद्योग आदि गुणों के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता प्रतीत होनी चाहिये ।



अब हों काँसों बैर करौं ?

कहत पुकारत प्रभु निज मुखते, घट-घट हों बिहरौं ॥

आप समान सब जग लेखौं, भक्तन अधिक डरौं ।

श्री हरिदास कृपा ते हरि की, नित निर्भय विचरौं ॥

प्रार्थना

जगदीश सुन यह प्रार्थना, हों सत्य धारी जन सभी ।

दुर्भावना सब दूर कर, नहीं होय व्याकुल मन कभी ॥

पर नारि, पर धन त्याग दे, दुख दोष कारी जान कर ।

दिन रैन सेवें पद युगल, सम दृष्टि पावें ज्ञान कर ॥

व्यवहार अनुचित नहिं करें, दुष्कर्म से वेमुख रहें ।

नित गर्व त्यागें लोभ भी, निष्काम होकर सुख सहें ॥

सब राग नाशें द्वेष भी, निर्दोष हों सब भाँति जन ।

शुभ भावना बढ़ती रहे, सत्संग हो पुनि शान्त मन ॥

दो युक्ति ऐसी हे प्रभो, मन इन्द्रियों को जीत लें ।

भ्रम जाल से छूटे तभी, निज ज्ञान में जब प्रीति दें ॥

हम याद राखें मृत्यु को, नहिं भोग में आसक्ति रहिं ।

दृढ़ प्रेम ध्यावें आपको, उर शान्ति अन्तिम मुक्ति लहिं ॥

जगदीश ऐसी कृपाकर, दुर्वासना सब नाश हो ।

आनन्द बढ़ता ही रहे, सम हृदय शुभ गुण राशि हो ॥

उर नम्रता अरु शीलता, सदप्रेम की धारा बहे ।

हो ध्यान ब्रह्मानन्द चिद्, नित ज्ञान उजियारा रहे ॥

(४)

बिगड़ी को मिटाने की विधि

किसी दम्पति के दोनों ओर का उत्तेजनायुक्त विवाद सुनने पर विचार होता है, कि आदर, सम्मान, आकर्षण तथा प्रेम से परस्पर का मानसिक सम्बन्ध दूर हो गया है। यह कोई असाधारण बात नहीं, साधारणतया दम्पतियों के संयुक्त जीवन में ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं, जिनमें दोनों के प्राकृतिक स्वभाव की भिन्नता दर्शाती है, जो जीवन के प्रारम्भिक काल में चाहे दृष्टि से दबी रहे परन्तु यात्रा बढ़ने पर प्रत्यक्ष में आये बिना नहीं रहती। यदि समय से, दोनों ओर के विचार, ज्ञान व सद्भाव द्वारा इसका समाधान न हो, तो भविष्य में स्थिति गम्भीर हो जाती है और गृहस्थ जीवन सुखमय होने की अपेक्षा भार हो जाता है। आयु बढ़ने पर शारीरिक सम्बन्ध व आकर्षण में धीरे-धीरे न्यूनता आना स्वाभाविक है। इसका स्थान यदि मानसिक सम्बन्ध न ग्रहण करे, तो दाम्पत्य जीवन निर्जीव दिखने लगता है। यही निर्जीवता मनुष्य में आन्तरिक सुख और शान्ति प्राप्त की छटपटाहट का हेतु बन जाती है।

छटपटाहट तो उत्पन्न हो गई, परन्तु जीवन भर के इकट्ठे राग द्वेषादि के कारण अयोग्यता इतनी बढ़ी होती है, कि उसको पार करने का मार्ग नहीं सूझता। ऐसी स्थिति में शास्त्र और सत्संग का आश्रय ढूँढ़ा जाता है। शास्त्रोपदेशों से धीरे-धीरे जागृति आती है, जिसके परिणाम स्वरूप उस विधि का बोध होता है जिससे बिगड़ी हुई को निश्चय पूर्वक सुधारा जा सके।

बीती हुई पर खेद व्यर्थ है। किन्तु उन्नति मार्ग का इच्छुक सदा धारणा रूप से यह समझे कि बीते जीवन का प्रत्येक पहलू यात्रा का एक आवश्यक अंग ही बन कर आगे की ओर गति प्रदान करने में सहायक हो रहा है।

फिर भी इतना विचार अवश्य आता है, कि यदि यह विधि भाग्यवश

समय से किसी प्रकार हाथ लग जाती, तो बीते हुये जीवन का स्वरूप दूसरा ही होता। इसका ध्यान छोड़कर मनुष्य भविष्य को संभालने में लगे। यही परमेश्वर-दत्त मानव विवेक बुद्धि का उपयोग है।

पति पत्नी के सदृश घनिष्टता और किसी भी दूसरे संसारी सम्बन्ध में नहीं है। दूसरों से तो ऊपरी व्यवहार द्वारा भली भाँति काम चलता रहता है, यदि स्थूल से सूक्ष्म बातों पर ध्यान सदा बना रहे। परन्तु पति-पत्नी के सम्बन्ध में इससे बहुत आगे की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विधि वर्तने की आवश्यकता रहती है। यह तभी हो सकता है, जब अहम्मन्यता को समूल त्याग कर विनयपूर्वक दोनों ओर की यह भावना हो, कि हम आवश्यकता होने पर परस्पर प्रेममय वाद द्वारा निर्णय करें, कि एक दूसरे से क्या आशा रख कर गृह में शान्ति और सुख की दृढ़ स्थापना कर सकते हैं। सद्भावना होने पर कदाचित् ऐसे वाद की आवश्यकता ही न होगी। एक दूसरे की अपूर्णता तथा स्वयं अपने दोषों पर भली भाँति विचार करने वालों को मन द्वारा ही उनको दूर करने के प्रयत्न में लगे रहने पर भगवत् कृपा से मार्ग स्वयं दीखता है और वे उन सूक्ष्म अनुकूल परिवर्तनों को ढूँढ़ लेने में सफल होते हैं जो पारस्परिक सहायता, सुख, और शान्ति पहुँचाने में नितान्त आवश्यक हैं।

इस प्रकार की भावना मनुष्य धीरे-धीरे ही बना सकता है। क्रोध, लोभ इन तीनों को नरक का द्वार भगवान ने कहा है। इनसे विमुक्त ही मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है।

पति पत्नी के सम्बन्ध में स्त्री अबला है, पुरुष का पद संसार भर में स्त्री की अपेक्षा ऊँचा माना है। स्त्री के दोषों की निवृत्ति में सहायक होना इस नाते से पुरुष का परम धर्म है। स्वाभाविक दोषों को मिटाने के लिए बड़े धैर्य की आवश्यकता रहती है। जितना बड़ा कार्य उतनी ही उच्च कोटि की उसके लिए योग्यता चाहिए। स्वभाव में परिवर्तन किये बिना दोष दूर करना असंभव है। स्वभाव को बदलने में अभ्यास चाहिये। इस के लिये धैर्य और दृढ़ता, जिसके निमित्त आत्म विजयी होना आवश्यक। अतः पहले पुरुष अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करे, तब स्त्री सहायक बनने का ध्यान करे।

पति की ओर 'सर्वस्व' की भावना पत्नी की अहम्मन्यता को समूल

नष्ट कर उसमें विनय भर देती है। विनय पत्नी का अमूल्य अस्त्र है, इसके द्वारा वह पति के हृदय पर अधिकार पाने में सफल होती है। सर्वगुण सम्पन्न होते हुए विनय भावना से न्यून अथवा रहित पत्नी भोजन में नमक न होने के समान है। विनय प्रार्थना का गुण उसको एक ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से संयुक्त करता है कि वह पति के हृदय में आई बात को उसके आव-भाव से तुरन्त पहचान कर उस की अभिलाषा पूर्ति में तन मन के लग जाती है। ऐसा करने में वह अपना सौभाग्य और गौरव समझती है तथा इस कर्तव्य पालन में अपूर्व सुख और शान्ति का अनुभव करती है, अपने हृदय में भक्ति और सत्य प्रेम की जड़ जमाती है और पति प्रतीक द्वारा भगवान की आराधना के योग्य अपने को दिन-दिन बनाती है।

इस प्रकार पति की भी वह भक्ति मार्ग की ओर रुचि बढ़ाने में मूक उपदेशक के रूप में सहायक होती है। सुख और शान्ति के वातावरण में ही प्रेम और भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस विधि से परस्पर के श्रेय का हेतु बन कर पति और पत्नी अपने शेष संयुक्त जीवन को कृतार्थ करें।

तुम हो मेरी आत्मा भगवान ॥

मेरे प्राण तुम्हारे सहचर, यह तन मेरा है तेरा घर ।

मेरी नींद समाधि तुम्हारी, मेरा भोग तुम्हारा पूजन ।

मेरी चाल तुम्हारी फेरी, मेरी वाणी स्तुति है तेरी ।

प्रियतम जो भी मैं करता हूँ, वह है सब तेरा आराधन ।

म्हाने चाकर राखो जी ! गिरधारी लला ! चाकर राखो जी ॥ टेका ॥

चाकर रह सँ, बाग लगासँ, नित उठ दरसन पासँ ।

वृन्दावन की कुँज गलिन में, गोबिन्द लीला गासँ ॥ १ ॥

चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची ।

भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों वाताँ सरसी ॥ २ ॥

भोर मुकट, पीताम्बर सोहे, गल बेजन्ती माला ।

वृन्दावन में धेनु चरावे, मोहन मुरली वाला ॥ ३ ॥

ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी ।

सावरिया के दरसन पाऊँ पहिर कुसुम्बी सारी ॥ ४ ॥

जोगी आया जोग करने कूँ, तप करने सन्यासी ।

हरी भजन को साधू आए, वृन्दावन के वासी ॥ ५ ॥

मीरा, के प्रभु गहिर गंभीरा, हृदे धरो जी धीरा ।

आधी रात प्रभू दरसन दीन्हों, जमुना जी के तीरा ॥ ६ ॥

(५)

पापी मन

“मन पापी है भगवान के चिन्तन में नहीं लगता” यह पुकार मनुष्य मात्र की है—सदा रही है और सदा रहेगी। परन्तु धीर पुरुष इससे नहीं घबराता। भगवान का आश्वासन है, कि मन चंचल हठीला और बलवान होने पर भी वैराग्य और अभ्यास से वश में हो जाता है। घबराये हुये मनुष्य के लिये मन के वशीकरण निमित्त, भगवान के इस वाक्य में श्रद्धा होना परमावश्यक है। इस वाक्य की सत्यता को सिद्धि प्राप्त श्रेष्ठ पुरुषों के उदाहरण भली भाँति प्रमाणित करते हैं। जिज्ञासु के मन में जब श्रद्धा का अंकुर जमता है, तब मार्ग की ओर दृष्टि जाती है। मार्ग वैराग्य और अभ्यास का ही है। जितना विषयों से मन खिचकर भगवान की ओर लगेगा वैराग्य बढ़ेगा, और मन अभ्यास के आनन्द में स्वयं रमेगा। किसी वस्तु प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा में उसके गुणों का आकर्षण रहता है। भगवान के क्या गुण हैं यह मनुष्य की बुद्धि और उसके हृदय का विषय है। स्वाध्याय और सत्संग द्वारा इस ज्ञान की प्राप्ति सुलभ है। इसके लिए पुरुषार्थ चाहिये। गुणों का आकर्षण जब इस प्रकार हृदय में हो जाता है बाहरी वस्तुओं से नाता धीरे-धीरे दूर होने पर धैर्य भाव होता जाता है।, इस प्रकार निर्मलता आने से भगवान की ज्योति, जो मलिनता के आवरण ये अब तक ढकी थी, श्रद्धा पुरुषार्थ और धैर्य की त्रिवेणी में स्नान द्वारा दिखने लगती है और साधक का मार्ग प्रदर्शित करने में सहायक होती है।

मनुष्य शरीर में तीन तत्व हैं, पंचभूतों से निर्मित जड़तुल्य नाशवान पुतला, परमेश्वर अंश रूप स्वप्रकाश आत्मा, जो इस पुतले में चेतन शक्ति प्रदान करती है, एवं प्रत्येक प्राणी में, हृदय स्थित विवेक रूप परमात्मा, जिसको (‘कोनश्येन्स’) ब्रह्म कहा है, जो पुरुष को पाप करते समय अन्तर्यामी रूप में चेतावनी देता है। भगवान के लिये, सृष्टि रचना कार्य में यह आवश्यक हुआ, कि माया से इन्द्रियों और उनके विषयों में राग द्वेष की

व्यवस्था करके कर्म बंधन के फाँस से जकड़ कर जीव को भँवर में गोते खाने को छोड़ दे। शरीर में बसी इन्द्रियाँ जीव को विषयों के राग द्वेष द्वारा बन्धन की ओर खींचती हैं, जिससे जन्म मरण का चक्र चलने से भगवान् की सृष्टि लीला चलती रहती है, और आत्मा, जो परमेश्वर अंश होने से अपने निजी स्वरूप में निर्विकार है, शरीर की इस ग्रन्थि से छूटने के निमित्त उस को विकारमुक्त मार्ग की ओर खींचती है, इस प्रकार शरीर और आत्मा का संघर्ष चलता रहता है। जो विवेकी अन्तर्यामी भगवान् की वाणी को पहचान कर उसका आदर करते हैं और अपने दैनिक व्यवहार में तदनुसार वर्तते हैं, उनकी गति मुक्ति की ओर होती है, और इसके विपरीत जो शरीर के प्रलोभनों में फँसकर बंधन को पुष्ट करते हैं, उनकी पतन की ओर।

बन्धन मुक्त होने के साथ संसार कार्य भी चलते रहना चाहिये अन्यथा सृष्टि चले कैसे।

बन्धन से मुक्त होने के निमित्त भगवान् ने निष्काम कर्म योग की विधि सृष्टि की आदि से बतायी है। सूर्य की गति से इसका उदाहरण मिलता है। सूर्य अपने नियम पर अटल रहता है। पापी और पुण्यात्मा को रागद्वेष रहित एक सा प्रकाश प्रदान कर किसी प्रकार की कामना नहीं रखता। मानो संसार की अपने प्रकाश और उष्णता द्वारा सेवा हेतु ही उसने जीवन धारण किया है। इन दोनों के अभाव में संसार की गति रुक जावे, इनको पाकर ही संसार जीवित है। भगवान् का आदेश है कि जीव भी इसी प्रकार निष्काम भाव से कर्म में सदा अटल रहे। कामना ही बन्धन की जननी है इसके द्वारा संस्कार अन्तःकरण में उत्पन्न होकर जीव का जन्म जन्मान्तर पीछा करते हुए उसको जन्म मरण के चक्र में फसाये रहते हैं। स्वार्थ और उससे उत्पन्न भोग लालसा-इन दोनों को भगवान् ने आत्मा के घोर शत्रु कह कर यह उपदेश दिया है कि इनसे मुक्त होने के लिए आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को अलग करने के उद्देश्य से कर्त्तापन के अहम् भाव को धीरे-धीरे मनुष्य त्यागे। यह जो कर्म करता है भगवान् की दी शक्ति द्वारा ही होता है। उसकी इच्छा और शक्ति बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। ऐसे दृढ़ विश्वास से सुकृतियों के फल का अधिकारी अपने को न समझकर परमेश्वरार्पण करे अर्थात् परहित में सौंप दे। इस अभ्यास द्वारा निर्मलता प्राप्त होने पर दुष्कर्म बनेगा ही नहीं, क्योंकि इसकी

मूल तो कामना ही है। कामना जनित दुष्कर्म का जो बन्धनकारक है, उत्तरदायित्व स्वयं जीव पर ही होगा।

भगवान ने मनुष्य को विवेक बुद्धि प्रदान करके कर्मों द्वारा अपना भविष्य स्वतन्त्रता पूर्वक निर्माण करने की योग्यता दी है, कि वह चाहे उन्नति की ओर बढ़े चाहे पतन की ओर गिरे। भाग्य रूप में अपने पूर्व संस्कारों से बँधा जीव विवश सा अवश्य रहता है, परन्तु भविष्य सदा उसके हाथ में है। विवेकी पुरुषार्थी अपने अब तक के भाग्य रूप में प्रदर्शित पूर्व संस्कारों के प्रवाह की दिशा को अपनी वर्तमान तथा भविष्य में की हुई सुकृतियों से एक जन्म के ही नहीं तो जन्म जन्मान्तर के प्रयत्नों द्वारा शनैः-शनैः बदलते हुये मुक्ति की ओर अवश्य कर सकता है। यह अटल नियम में दृढ़ विश्वास कितना बल पहुँचाने में सहायक हो सकता है इसका अनुमान व्यक्ति स्वयं कर ले।

मनुष्य के हृदय में मानो दो मन रहते हैं। एक शरीर की ओर भुका रहता है दूसरा शरीर स्थित परमात्म तत्व की ओर। पहला रागी दूसरा विवेकी। इस मन का अवलम्बन पाने पर भी यदि मनुष्य निराश हो कि पापी मन कुछ नहीं करने देता तो यह उसका अज्ञान है। पापी मन की वृत्तियों को दबा कर अपने सहायक मन की ओर दृष्टि लगाने के अभ्यास से सत्य मार्ग मिल जावेगा यह भगवान का आश्वासन है। निष्कामता मन की चंचलता को मिटा कर उसको कालान्तर में स्थिर बना देगी।

अन्त में यही उपदेश है कि श्रद्धा, उद्योग, धृति और धैर्य इन चारों गुणों के बिना जब इस लोक में ही सफलता नहीं मिलती है तो मुक्ति, जो परलोक का विषय है उसकी प्राप्ति कैसे हो।

मन पर असमय वियोग रूपी बज्र पड़ने से सांसारिक जीवन में असाधारण परिवर्तन होने से जो स्थिति उत्पन्न हो जाती है उससे आध्यात्म की ओर अधिक से अधिक लाभ उठाने के अवसर को न खोना चाहिए, विशेषतः जब व्यक्ति संकट के दीर्घकाल में अतिशय परिश्रम द्वारा सफलता प्राप्त कर अपने को धैर्यधृति और पुरुषार्थ की सजीव मूर्ति प्रमाणित कर चुका हो। इन गुणों की बाहुल्यता के साथ भगवान के उपदेशों में दृढ़ श्रद्धा हो जाने से यह समन्वय अमृत रस के समान नित्य सुख की झलक उसे दिखी।

सत्य वस्तु - पाने का रास्ता-सदसद्गुरु

“सत्य वस्तु क्या है ?”—एक है, दो नहीं, परन्तु “सद्धिप्राः बहुधा वदन्ति” । ज्ञानी, अपने-अपने अनुभव द्वारा, भिन्न-भिन्न प्रकार से वखानते हैं । ‘सत्य’ पूर्णतया अनुभव में आने की वस्तु अवश्य है, परन्तु वाणी से वखानी नहीं जा सकती; ऐसी घोषणा संसार भर के पुरुषों ने की है । उदाहरण के लिये-जलेबी का स्वाद अनुभव-हीन को समझाया नहीं जा सकता । इस की समानता रखने वाला पदार्थ एक बार मिल भी जावे, परन्तु सत्य अद्वितीय होने से अव्यक्त एवं अचिन्त्य है । वह केवल अनुभवनीय ही है ।

“उसको पाने का मार्ग क्या है ?” ये अनेक हैं । सिद्धों का कथन है, कि वह अनुभव में तभी आता है, जब मनुष्य अपने सब दोषों पर विजय पाकर अहमान्यता और ममता से मुक्त हो जाय । दुःख और अशान्ति इन दोषों के ही परिणाम हैं । जब तक एक ही साथ पाँचों कोशों में सुख व शान्ति के अनुभव का समय न सघ जावे तब तक मनुष्य अपूर्णता के कारण अशान्त व दुःखी बना रहता है । एक-एक कोश का पृथक-पृथक सुख नित्य-सुख नहीं होता । पहला कोश-अन्नमय सात्विक और संयमित भोजन से शरीर सुख की वृद्धि होती है, और असात्विक और असंयमित से सदा दुःख की । इन अनुभवों द्वारा तथा शास्त्र की सहायता से सात्विक असात्विक की पहचान मननशील पुरुष को हो जाती है । असात्विकता से उत्पन्न दुःख का अनुभव जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो प्रयत्नशीलता का मूल है । इसके द्वारा मार्ग दिखाने पर, धृति सहित उस पर चलने से शारीरिक स्थायी सुख का लाभ होता है । दूसरा कोश (प्राणमय)—प्राणायाम विधि द्वारा पाचों प्राणों पर इतना अधिकार प्राप्त कर लेना, कि सारे शारीरिक, अंग अपने स्वाभाविक कार्य सुचारु रूप से करते रहें । यौगिक क्रियायें इसमें सहायक होती हैं । तीसरा कोश (मनोमय)—इन दोनों कोशों के

दुःख कम पड़ने से मन में एकाग्रता आने लगती है। फिर भी मन बड़ा चंचल है। उसको स्थिर करने में श्रद्धा, भक्ति, और प्रेम सहित निष्काम कर्म का निरन्तर अभ्यास करते रहना—यही मार्ग श्रेष्ठ पुरुषों ने साधारण व्यक्ति के लिए बताया है। श्रद्धा, भक्ति, और प्रेम, आदर्श पुरुष के नाम, गुण, प्रभाव और रहस्य के श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठन द्वारा स्वयं उत्पन्न होते हैं। चौथे, ज्ञानमयकोश की वृत्ति उपरोक्त तीन के नित्य निरन्तर अभ्यास पर आधारित है। बुद्धि का पूर्ण सहयोग होने से इसका अभ्यास निभता है। पाँचवाँ आनन्दमय कोश—जब इन चारों कोशों का परस्पर संगठित और सहायक व्यवहार चलता है, तब उस अखण्ड आनन्द का अनुभव होना कहा गया है, जिसको सच्चिदानन्द के नाम से संकेत किया जाता है। इन पाँचों कोशों का संगठन ही सत्य वस्तु के पाने का मार्ग है। संगठन करने की विविध विधियाँ, देश-देश की देश, काल की आधिभौतिक आधिदेविक तथा आध्यात्मिक स्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। सनातन वैदिक धर्म के अनुसार आस्तिक भाव की विधि ही पूर्ण है, अर्थात् ब्रह्म से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति, और उसी में लय। प्राणी मात्र में एक ही परमात्म अंश विद्यमान है। अतः शरीर का प्रत्येक रक्त कण जैसे सारे शरीर को अपना ही मानकर, सुख दुःख अनुभव करता है, वैसे ही जीव प्राणी मात्र को आत्मस्वरूप मान कर, परस्पर प्रेम करने की अभ्यास करे। यह ही अन्तिम ज्ञान है। इसकी सिद्धि बिना अहमता और ममता का, जो संसार में सारे दुखों की जड़ है, नाश नहीं हो सकता। निष्काम कर्म के अभ्यास द्वारा कालान्तर में, यह ज्ञान प्राप्त होने का आश्वासन भगवान ने दिया है। श्रेष्ठ पुरुषों के बताये मार्ग पर चलने से निस्तार होता है।

सदसद्गुरु—स्वयं अपने को सिद्ध मानने से कोई सिद्ध नहीं होता। जिसको अपनी सिद्धताई का आभास तक न हो, और जिसके वचनों तथा व्यवहार में, श्रद्धालुओं के निश्चय के अनुसार, पूर्णता हो, वह अनुयायियों की दृष्टि में, आदर्श पुरुष माने जाने योग्य होता है। अधूरे आचार्य में तो साधारणतया स्वार्थ साधन की ही वृत्ति, दृश्य अथवा अदृश्य रूप में, समझनी चाहिये। शिष्य में श्रद्धा का महत्व है। गुरु के अपूर्ण होने पर भी यदि शिष्य की प्राकृतिक स्वाभाविक श्रद्धा स्थाई और अचल है, तो उसको श्रेय मार्ग मिलेगा, परन्तु जब गुरु अपूर्ण हो और शिष्य में श्रद्धा की न्यूनता भी हो,

तब तो दोनों ओर ढोंग मात्र से हानि ही समझनी चाहिए। सुन ले, शिष्टाचार में कमी न बर्ते, परन्तु किसी भी भय के आधीन होकर, अपने आन्तरिक विश्वास का कभी घात न करे। निर्भयता, आस्तिक भाव का अमूल्य परिणाम है। कोई किसी को हानि नहीं पहुँचाता। अपने कर्म और संस्कार ही हानि रूप धारण करते हैं। यह दृढ़ विश्वास आस्तिक भाव का मुख्य अंग है।

आत्मनिरीक्षण, आत्म-संयम, आत्म-विश्वास, पुरुषार्थ एवं भगवद् दया का भरोसा-ये मनुष्य का बेड़ा पार लगाते हैं। गुरु कृपा तो निमित्त मात्र सदा चाहिये ही, वह भी सद्गुरु की। एक अन्ध दूसरे को गड्ढे में ही तो गिरायेगा।

ऐसे सूक्ष्म विषयों पर अपने-अपने ही विचार होते हैं। वाद होता है सत्य के निचोड़ के लिये, और विवाद, गुप्त या प्रगट रूप से अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के उद्देश्य से।

अनुभव, सत्संग, तथा स्वाध्याय द्वारा मनुष्य को जब थोड़ी सी भी ज्ञान निधि प्राप्त होकर श्रेय, शान्ति, और सुख का साक्षात्कार होता है, तो यह स्वाभाविक इच्छा होती है, कि वह अपने प्रिय जनों को उस ज्ञान के लाभ का भागी बनावे। निष्काम भाव से सेवा रूप में की जाने पर ही यह इच्छा निर्दोष होगी।

कामना अर्थात् व्यक्तिगत भोग साधन की अभिलाषा, मनुष्य की इन्द्रियों, मन, तथा बुद्धि पर अति सूक्ष्म रूप से भी अधिकार जमा लेती है। ज्ञानी भी जब इससे नहीं बचते तो अज्ञानी की तो बात ही क्या।

सत्य सेवा वही है जो सेव्य पर लदाई रूप में न हो। जिस सेवा से उसमें श्रद्धा का प्रादुर्भाव न होकर प्रतिकूल भाव उत्पन्न हो, ऐसी स्थिति में या तो सेवा में किसी प्रकार का स्वार्थ मिला है, अथवा सेव्य ही निरा जड़ तुल्य मूढ़ अज्ञानी जीव है।

एक शिक्षित व्यक्ति के साथ गुरु का बल पूर्वक कोई आग्रह नहीं होना चाहिए। सिद्धि प्राप्त गुरु को तो आप्त कर्म ही, कामना रहित होकर करना उचित है, न कि कर्म को ढूँढ़ना, और मिलने पर उसको लादना।

श्रद्धा सहित आज्ञा पालन तथा आत्म समर्पण किसी गुरु को माँगने से नहीं मिलते। ये शुद्ध पवित्र व्यवहार द्वारा अन्तःकरण में स्वयं उत्पन्न

होने वाले भाव हैं ।

एक महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित, स्वभाव से नम्र, विनयशील और भक्त-हृदय व्यक्ति पर, उसकी अस्वस्थता तथा मानसिक व्यथा की दशा में लदाई रूप में, 'ज्ञान' देना 'सिद्ध पुरुष' के लिये अनुचित है ।

ऐसे सिद्धों के हाथ में साधन से कभी-कभी कुछ शक्ति अवश्य आ जाती है, क्रोधाग्नि में अहित तक करने में जिसका वे दुरुपयोग कर लेते हैं। शिष्य शान्ति के साथ अपने शिष्ट व्यवहार में दृढ़ बना रहे, तो नामधारी गुरु के क्रोध का वेग स्वयं ठंडा पड़ जायगा, और इस प्रकार गुरु को अनर्थ करने से बचाकर उनकी आतुरता से वह अपनी रक्षा भी कर लेगा ।

गुरुत्व की पवित्र पदवी के लिए जो गति, निरे अयोग्य व्यक्ति में भक्ति मान शिष्य ने, अपने सम्मान युक्त भाव द्वारा, अब तक के उनके प्रति व्यवहार से, उसकी दृष्टि में, उत्पन्न कर दी है, उसके धीरे-धीरे क्षय होने से ही, ऐसे नामधारी गुरु से पिण्ड छूट सकता है ।

संकट काल में मनुष्य के विचारों में थोड़ी दुर्बलता आ ही जाती है। ऐसी स्थिति में शिष्य के आश्रय लेने से यदि गुरु को स्वार्थ साधन योजना की प्रेरणा मिलती है, तो ये क्या सच्चे गुरु के लक्षण माने जायेंगे । परन्तु स्वार्थ में बड़ों-बड़ों की बुद्धि पर आवरण पड़ जाता है, और वे शिष्य को हृदय स्थित श्रद्धा में आघात पहुँचाकर, अपनी हानि स्वयं करते हैं ।

सन्तजनों के प्रति अपने-अपने विचारों की आपस में कुछ विस्तार से चर्चा हुई । एक अभिमान रहित, विनय भाव पूर्ण, पदाधिकारी में अपने कल्याण की 'जिज्ञासा देखकर, सन्त के हृदय का आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है ! कामना रहित श्रेष्ठ सन्त तो, ऐसे व्यक्ति पर कृपा करके, उसके प्रति ऐसे बरतता है, जिससे हृदय में उस के लिए श्रद्धा का अंकुर, धीरे-धीरे ज्ञान के प्रकाश में, जमे । श्रद्धा ज्यों-ज्यों दृढ़ होगी, संत की वाणी का प्रत्यक्ष परिणाम, उपदेशों के अनुसार कर्म करने की शक्ति के विकास रूप में, व्यक्ति में दर्शता जायगा ; इसके विपरीत, स्वार्थी अधूरे संत, अपने स्वार्थ का विकार मिलाकर, व्यक्ति को पुस्तक ज्ञान देते रहने के अतिरिक्त कोई वास्तविक लाभ पहुँचाने में असमर्थ रहते हैं, उसमें ज्ञान

के अनुसार कर्म करने की सच्ची लगन अथवा आन्तरिक प्रेरणा नहीं उत्पन्न कर सकते। यही भेद परोपकारी व स्वार्थी अधूरे सन्त में होता है।

ऐसे अधूरे स्वार्थी संत, आर्त और भोगी मनुष्यों द्वारा, बहुत पूजे जाते हैं। उनमें एक विलक्षण शक्ति, दीर्घाभ्यास द्वारा, उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे आर्त और भोगी का प्रकृतिजन्य स्वभाव तुरन्त पहचान कर, तदनुसार अपने अनुमान से बात बना देते हैं। इन बातों में, पीछा करने वालों को, अपनी वृत्ति के अनुसार, कुछ सत्य प्रतीत होता है। उदाहरण-चुटपुट दवा बतादी, सट्टे का गोलमोल संकेत कर दिया, दस सुनने वालों ने उसको भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा। अकस्मात् लाभ होने पर, कोई श्रद्धावान बन गया। बस धीरे-धीरे संत की गद्दी पुष्ट होने लगी। संसारी वस्तुओं के इच्छुक ही, ऐसे संतों के निर्माण में, योग देते हैं। जिससे सिद्ध साधक का नियम चलता रहता है। यह भी असत्य नहीं कि ऐसे सन्तों को कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त रहती हैं।

कर्त्तव्य कर्म करने का बल उत्पन्न कर देना यह महात्मा का ही कार्य है। पूर्ण ज्ञानी तथा निस्वार्थी ही ऐसा महात्मा होता है। प्रयत्न करने पर एक न एक दिन मनुष्य को ऐसा गुरु अवश्य मिलेगा, जो उसको ज्ञानानुसार कर्म पथ पर चलने की शक्ति जिसका अभाव वह अपने हृदय में अनुभव करता है, उत्पन्न कर दे। बिना कर्म किये सिद्धि कहाँ और कैसे ? तैरने के विषय की सैकड़ों पुस्तकें पढ़ने पर भी, पानी में बिना उतरे तैरना नहीं आता। कोरा पुस्तक ज्ञान अनुपयोगी है। भूमि में गढ़ा सोना, यदि भोगार्थ या दानार्थ उपयोग में न आवे, व्यर्थ ही है।

मनुष्य सन्तों के सत्संग से न चूके, वे स्वार्थी ही सही; एक न एक दिन सच्चा संत पा जाने की आशा लगाये रहे। परन्तु इस खोज तथा आशा काल में विवेक खोकर, अल्प स्वार्थ वश, अपने व अपने स्वार्थी संत के निश्चित पतन का कारण न बने।

तुलसी या संसार में सबसे मिलियो धाय।

ना जाने किस भेष में नारायण मिल जाय। ✓

(७)

पाप-पुराय

पाप वह है, जिसके करने से अपनी, अपने संसर्ग में आने वाले व्यक्ति व व्यक्तियों, समाज, जाति, देश तथा विश्व की भौतिक तथा आध्यात्मिक हानि होवे। इसके प्रतिकूल पुण्य कर्म वे हैं, जिनसे इनमें से एक अथवा अनेक के लिए एक एवं दोनों प्रकार की उन्नति के साधन जुटें।

प्रत्येक कर्म के बाह्य और आन्तरिक, दो प्रकार के परिणाम होते हैं। इन दोनों के दो दो भेद-दृश्य और अदृश्य। दृश्य जो तत्काल अथवा कुछ समय बीतने पर, दृष्टिगोचर होते हैं और अदृश्य, जो अति सूक्ष्म होने के कारण गुप्त से रहते हैं, परन्तु किसी न किसी रूप में अपना भाव छोड़ बिना नहीं रहते।

बाह्य परिणाम बाह्य संसार से सम्बन्ध स्थापित करता है, तथा आन्तरिक अन्तःकरण से, और उसके द्वारा अपनी आत्मा के बन्धन तथा उसकी मुक्ति के साधनों से।

कर्म जड़ है, उसमें पाप या पुण्य व्यवस्थित नहीं। इसका निर्णय, उस आन्तरिक बुद्धि अर्थात् प्रेरणा पर, आधारित है, जिससे वह कर्म करने को मनुष्य प्रोत्साहित होता है।

अहिंसा का तात्त्विक अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति मित्रता और सद्भाव। विषैले सर्प को मारने में हिंसा अवश्य होगी। परन्तु उसको नष्ट करने में रक्षक भाव सम्मिलित होने से पुण्य का भाग अधिक होगा। प्रत्येक कर्म दोष से ऐसा आवृत्त रहता है, जैसे धुएँ से अग्नि। कोई भी कर्म पूर्ण निर्दोष विधि से नहीं बनता। स्थिति वश रक्षा हेतु सर्प नष्ट करने में हिंसा का भाव दबा रहता है। इसके विपरीत शत्रुता से कारण अकारण ध्यान में न रख कर, सर्प देखते ही मारने से हिंसक वृत्ति बढ़ती है, जो मनुष्य की अवनति का कारण होती है।

प्रत्येक समाज, जाति या देश में जिस विषय में जो नियम परम्परा से, अथवा वर्तमान काल में बहुमत से, बना है, उसके अनुकूल आचरण पुण्य कह लावेगा तो प्रतिकूल पाप । इस पाप के लिए व्यक्ति दण्डनीय है । अभय होकर यदि कोई दृढ़ विश्वासी, नियम के विरोध में प्रतिकूल कर्म डंके की चोट करता है, तो उसको पाप छू नहीं सकता । छिपकर करने से आध्यात्मिक धक्का लगता है, जिसके दुष्परिणाम से वह बच नहीं सकता ।

मनुष्य समाज की सुव्यवस्था हेतु स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नियम, देशों में भिन्न-भिन्न होने पर भी, अपने-अपने स्थान पर मान्य हैं । पशु पक्षियों के स्त्री-पुलिंग सम्बन्ध में जननी जाता तक का विचार नहीं होता । अतः विश्व कर्त्ता की दृष्टि से मनुष्य कृत सामाजिक तथा जाति नियमों में पाप पुण्य कुछ नहीं होता । वहाँ तो आत्मा का जिससे बन्धन हो वह पाप है और जिससे उसकी मुक्ति वह पुण्य ।

आन्तरिक अधोगति में पड़े मानव की आत्मा की पुकार कितनी भी दुबल पड़ गई हो, परन्तु यह होती अवश्य है । ऐसी स्थिति में भी यही उसका विवेक रूप में गुरु है । जिसको अपनी आध्यात्मिक उन्नति की लगन है, वह इधर उधर न भटककर इस गुरु की ही शरण हो कर आत्म बल संग्रह में लगता है, जिससे उसके संकल्प में दृढ़ता का विकास होकर आत्मोन्नति के मार्ग में गति बढ़ती है ।

पुण्य और पाप की जड़ अच्छी बुरी कामनाओं में है । शुभकामनाओं से किये कर्म पुण्य कहलाते हैं, और अशुभ से पाप । पुण्य कर्मों का फल जो सुख है, वह पाप कर्मों के दुःख रूप फल को मेट नहीं सकता, अधिक होने पर ढक सकता है वह भी केवल कुछ काल के लिए ही । इसलिए कर्म बन्धन से मुक्त होने को कामना रहित होना ही एक उपाय है ।

पूर्व संस्कार वश जो न तो ज्ञान मार्ग की ओर प्राप्त होता है, न भक्ति मार्ग की ओर, ऐसे मनुष्य के लिए निष्काम कर्म योग ही अवलम्बन है । गृहस्थाश्रम तथा समाज में रह कर, अपनी निम्न प्रकृति को अपने अधिकार में रखने के प्रयत्न में सदा लगा, वह अपनी धर्म युक्त इच्छाओं को पूर्ण करने का अवसर पाता है, जिससे प्राकृतिक वेगोत्पन्न भोगों से

वंचित रहने की यातना भी परवशता में उसे नहीं सहनी पड़ती, और साथ ही अपनी संतान तथा अन्य आश्रित प्रियजनों के पालन पोषण के उद्देश्य से त्याग का पाठ भी एक स्वाभाविक रीति से पढ़ने को मिलता है। इस प्रकार वह शनैः शनैः निष्कामता को ओर बढ़ता है, ज्यों ज्यों उसके अनुभव में भर जाता है कि आन्तरिक सुख व शान्ति, त्याग और निष्काम कर्म द्वारा ही प्राप्त होने की वस्तु है। जितना अभ्यास इस निष्काम-कर्म योग में बढ़ेगा, सुख और शान्ति की मात्रा भी उसी प्रकार अधिकाधिक होगी।

‘सारे कर्म कामना वश होते हैं, कामना निकल गई तो हेतु ही क्या रह गया।’ मनुष्य कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रहता। जब कर्म करना छूटना नहीं, और यह बिना हेतु हो नहीं सकता, तो कामना से मुक्त होने का एक ही उपाय रह जाता है कि कर्म करके उसके फल को स्वार्थ में न लगाकर परमार्थ के लिए एक तरफ रख दे। इस विधि में यह दोष आता है, कि जब कर्म फल से स्वार्थ त्याग दिया तो फिर वह उत्तम मध्यम किसी प्रकार से भी हो उसकी कोई विशेष चिन्ता नहीं। अतः निष्काम कर्म योग में दो नियम मुख्य हैं। कर्म करने का अधिकार तो माने, परन्तु सिद्धि असिद्धि में निर्विकार बना रहे, सिद्धि में न फूले, और न असिद्धि में शोकग्रस्त हो और प्रत्येक कर्म को स्वधर्मानुसार यथाशक्ति कुशलता पूर्वक करे। कर्म फल त्याग और कुशलता—ये दो निष्काम कर्म योग के स्तम्भ हैं।

इन को पूर्ण रूप से निभाकर यदि न्यायाधीश पापी को फाँसी चढ़ाता है तो वह स्वधर्म पालन में पाप का भागी नहीं हो सकता। यथाशक्ति कुशलता बर्तने पर यदि उसके निर्णय में निरीक्षकों के मत से त्रुटि रह जाय, इतनी तक भी कि उसके प्रतिकार में न्यायाधीश को दण्ड मिल जावे, तब भी अन्तःकरण निर्मल होने से उसको पाप छू नहीं सकता। पुण्य कर्म के अभ्यास द्वारा पाप वृत्ति में धीरे-धीरे परिवर्तन से पुण्य वृत्ति बन सकती है, परन्तु पाप कर्म का फल अमिट है, जो कर्म की समाप्ति पर मनुष्य के पीछे छाया के समान लगकर भोगने से ही क्षय होता है इसके नाश होने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं।

इस सिद्धान्त में अटल विश्वासी, पाप कर्म से सदा भयभीत रहकर,

शुभ कर्म की ओर झुकेगा। पुण्य कर्म से पाप मिट जाते हैं यह सिद्धान्त भ्रमात्मक हैं। हानि-लाभ पृथक् पृथक् थैली में रखे समान हैं जो समय पर फलीभूत होते हैं इस भ्रमात्मक सिद्धान्त को मानने वाले, मनुष्य की वृत्ति, पाप कर्म से बचने में, दृढ़ नहीं होती, अनियमित भोजन करके चूर्ण की उपयोगिता में विश्वास के समान अजीर्ण तो चूर्ण से चाहे पच जाय परन्तु लोलुपता में तो वृद्धि हो ही जायगी।

निष्काम कर्म योग में कुशलता स्वयंभावी है। फल त्याग से उत्पन्न समबुद्धि के प्रकाश में सिद्धि असिद्धि से शुभाशुभ के ओर की सब चिन्तायें जिस मनुष्य के चित्त से दूर हो जाती हैं, उसकी बहुत सी शक्ति, जो इन में व्यर्थ व्यय होती है, उपयोग में आ जाती है। इस प्रकार एकाग्र मन से किये कर्म में स्व की शक्ति के अनुसार कुशलता का बना रहना निश्चित है। किसी त्रुटि की सम्भावना न रहे, इसलिये आगे आदेश है कि निष्काम कर्म स्व-धर्म का ही किया जावे। पूर्व संस्काराश्रित स्वधर्म में स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्य की होती है, जिससे निरन्तर अभ्यास द्वारा उसके कर्मों में निपुणता आ जाती है।

निष्काम कर्म में, स्वधर्म त्याग पर धर्म की ओर जाने की भावना का ही अन्त हो जाता है। पर धर्म में जाने के लिए कोई हेतु होना चाहिए। पूर्ण निष्कामता में हेतु ही विलीन हो जाता है।

कर्म योग की शिक्षा सूर्य की गति से ग्राह्यमान है। सृष्टि को प्रकाश व जीवनदायनी उष्णता देने हेतु सूर्य का धर्म तपने का है। वह अपनी धुरी पर अटल है, सबके लिये समान किसी से राग न द्वेष, सृष्टि की सेवा में निरन्तर संलग्न सबसे अलिप्त, उसके उदय होते ही संसार का क्रिया चक्र चल जाता है। मनुष्य में निष्काम कर्मयोग द्वारा इसी प्रकार महान शक्ति का संचार होता है। तेज फैलकर संकल्पों में बड़ा बल आ जाता है। आत्मोन्नति का मार्ग खुला रहता है और निरन्तर अभ्यास द्वारा बुद्धि समभाव में स्थिर हो जाने से उसको परमात्मा के विराट् रूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह अपना सारा जीवन विश्वरूप परमेश्वर की भक्ति अर्थात् सेवा में अर्पण करता है। ऐसा महापुरुषों के वचनों का सारांश है।

निष्काम योग द्वारा स्वधर्मानुसार कर्मों में लगे मनुष्यों को इस प्रकार परम सिद्धि मिलती है, यह भगवान का निश्चित उपदेश है ।

ऊपर के विवेचन से अपने दैनिक कर्तव्यों का निरीक्षण करने वाले मनुष्य को ज्ञात होगा, कि कौन सा कर्म उससे नियमानुसार बन रहा है और कौन सा नियमविरुद्ध । कर्म की अपवित्रता का बोध होने पर भी जो यह समझकर उसमें प्रवृत्त होता है, कि कौन देखता है किये जाओ वह उस मूर्ख पशु शुतुरमुर्ग के समान है जो रेत में अपना मुख छिपा कर समझता है कि मैं छिपा हूँ मुझे कौन देखता है । उसका सारा शरीर तो दिखा रहा है कोई भी अपना लक्ष्य बना ले आन्तरिक आखेट से मनुष्य क्षण भर के लिए भी नहीं बच सकता, यदि बाहर से कुछ समय के लिए बच भी जाये । भय घुन के समान अन्तःकरण को खोखला कर देगा ।

समाज में जितनी उच्च पदवी उतना बड़ा उत्तरदायित्व, और उतने ही अधिक प्रकाश में अधिकारी का सारा जीवन । नीची श्रेणी के मनुष्य उसके अधिकांश कर्तव्यों पर दृष्टि रखते हैं । सज्जन उसके गुणों से पाठ सीखते हैं, दुष्ट और द्वेषी बदला लेने की घात में रहते हैं । आचरण में अपवित्रता का ऐसे अवसर पर कोई उपचार नहीं । पकड़ में आ जाने पर कलंकित होकर उसको महान हानि सहनी पड़ती है । निर्भयता सहित साहसी प्रशासन उसी का होता है, जो अपने आत्म निरीक्षण में आये दोषों को दूर करने में सदा लगा रहता है ।

विदेशी सत्ता में सहयोग देने वाले मनुष्यों की दुर्बलता को उस युग के अधिकारी पोषण करते थे; इससे दुष्कृतों को आश्रय मिलता था । वर्तमान स्थिति में दोष दिख जाने पर बचना बड़ा कठिन है ।

नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?

- ✓ क्रोध न छोड़ा, भूठ न छोड़ा, सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ॥
- कोड़ी को तो खूब संभाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ॥
- भूठे जग में दिल ललचाकर, असल वतन क्यों छोड़ दिया ।
- ✓ जिहि सुमिरन ते अति सुख पावे सो सुमिरन क्यों छोड़ दिया ।
- खालस एक भगवान भरोसे, तन मन धन क्यों न छोड़ दिया ॥

(८)

ज्ञान के बदले कर्म से मोक्ष कैसे मृत्यु से परे का जीवन कैसा ?

जड़ पदार्थ और शक्ति-कन्यादान

शंका—‘प्रत्येक कर्म की निश्चित रूप से प्रतिक्रिया होती है इसलिए कर्म से मोक्ष नहीं हो सकती, ज्ञान से ही वह सम्भव है ।

प्राणी मात्र की उन्नति निमित्त जितने संकल्प, प्रयत्न, तथा त्याग किये जाते हैं, उन सबको भगवान ने कर्म कहा है । विवेक द्वारा गहरे विचार से, श्रवण और पठन-पाठन से, ज्ञान प्राप्त करना यह भी तो, ऊपर लिखे अर्थ में कर्म ही होता है । नीची श्रेणियों से निष्काम कर्म का अभ्यास करके, जब आत्म शुद्धि अर्थात् रागद्वेषादि से छुटकारा होता है, तब विचार द्वारा ज्ञान प्राप्ति के जो सूक्ष्म संस्कार उसके अन्तःकरण में बनते हैं, वे ही पराकाष्ठा में नामान्तर रूप से ज्ञान कहलाते हैं । अतः कर्म से मोक्ष नहीं हो सकती, यह विवाद इस दृष्टिकोण से भ्रमात्मक है । यह यथार्थ है, कि यदि कर्म बिना आत्म शुद्धि लक्ष्य के स्वार्थवश होगा, तो वह उन्नति में निरन्तर निरर्थक रहकर, ज्ञान प्राप्ति में सहायक न होगा । ऐसे कर्म ही मुक्ति के साधन नहीं बनते, परन्तु भगवानोक्त कर्म की व्याख्या में आत्म शुद्धि के लक्ष्य से जितने निष्काम कर्म होंगे, समय पाकर उन सबकी ज्ञान में ही समाप्ति होगी; ज्ञान अर्थात् ‘वासुदेव सर्वमिति’ जो कुछ है वह परमेश्वर ही है । एक ही परमात्मा रूपान्तर से सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है । अपनी और पर की आत्मा एक है, इस अभिन्नता के प्रत्यक्ष अनुभव से संसार के दुखों का अन्त होता है । यह ज्ञान बुद्धि गम्य है ।

तलाशे यार में जो ठोकर खाया नहीं करते,
वे अपनी मंजिले मकसूद को पाया नहीं करते ।

प्रश्न—मृत्यु से परे का जीवन कैसा ?

भगवान् ने कहा है कि सत्व, रज, और तम प्रकृति के तीन गुणों में फँसा परमेश्वर अंश ही जीव रूप में दरसता है ।

प्रकृति में स्थिति पुरुष उससे उत्पन्न पदार्थों को भोगता है, और उनके साथ जो सम्बन्ध उसका बन जाता है, जिसको वासना अथवा संस्कार कहते हैं, वही उसके लिये अच्छी अथवा बुरी योनि का कारण बन जाता है ।

जीवात्मा, शरीरान्त में पुनः दूसरे शरीर में प्रवेश के समय मन और इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये इन संस्कारों को ऐसे साथ लिये रहता है, जैसे वायु गन्ध को । प्राकृतिक नियमानुसार इन वासनाओं अथवा संस्कारों के उपयुक्त नवीन शरीर जीव को स्वयं प्राप्त होता है । कर्म की यह अत्यन्त सूक्ष्म व गहन गति है । ईश्वर कृत गुरुत्वाकर्षण का नियम प्रत्येक धन पर अचूक रूप से कार्य करता है और ऊपर से नीचे पृथ्वी की ओर वस्तु को फेंकता है, किसी के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं । इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर धारी जीव पुनर्जन्म को पाता है ।

सात्विक कर्मों द्वारा जीव मोक्ष की ओर बढ़ता है, राजसिक से मध्यम स्थिति में रहता है और तामसिक से अधोगति की ओर गिरता है ।

उन्नति मार्ग पर चलते हुए जब अनेक जन्मों में किए उत्तम कर्मों के परिणाम स्वरूप, जीव की वासनाओं का पूर्णतया अन्त हो जाता है, तब शरीर धारण करने के कारण ही का लोप हो जाने से मुक्ति का योग बनता है । इन वासनाओं के समूह को कारण शरीर कहते हैं ।

मृत्यु पश्चात् पुनर्जन्म तक की स्थिति सूक्ष्म शरीर के नाम से कही जाती है । चन्द्र लोक, सूर्य लोक, स्वर्ग आदि, ये तो साधारण मनुष्य को काल्पनिक लगते हैं ।

अच्छे बुरे तथा मिले-जुले त्रिविध कर्मों का फल अत्यागी पुरुष को परलोक तक नहीं छोड़ता, परन्तु कर्म फल त्यागी को नहीं लगता । अतः निष्काम कर्म द्वारा पूर्व संस्कारों का क्षय होता है और नये संस्कार नहीं बन पाते, जिससे कालान्तर में मुक्ति का लाभ स्वयं होता है, ऐसा सिद्धान्त है, जो सब उत्कर्ष का मूल है ।

माया छाया एक सी, बिरला जाने कोय ।

भक्तों के पीछे पड़ी, सन्मुख भागे सोय ॥

३—जड़-पदार्थ और शक्ति का विचार ।

ब्रह्म-परम अक्षर—उसके दो रूप । एक अविनाशी-अक्षर, दूसरा अक्षर-रः नेत्रों द्वारा अनुभव में आने वाली विराट रूप सृष्टि जिसको दिव्य दृष्टि द्वारा अर्जुन प्रत्यक्ष देखकर संशय रहित हो गये थे ।

शक्ति—(विजली)—अकेली अकर्त्ता । उपाधि—जड़ पदार्थ का संग-पाकर कार्य करती है । बल्व द्वारा प्रकाश, पंखे द्वारा हवा में गति इत्यादि । स्त्री पुरुष का संयोग ही नवजीव की उत्पत्ति का मार्ग है, अकेले दोनों उत्पादन में असमर्थ । ब्रह्म को भी अव्यक्त से व्यक्तरूप में आने के निमित्त जो उसका स्वभाव है, महत् ब्रह्म की सहायता की आवश्यकता हुई । अनादि प्रकृति द्वारा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पंचभूतों की क्रमानुसार परस्पर से उत्पत्ति पूर्वक सृष्टि की रचना हुई । इन पंचभूतों को ग्रहण करने के लिए मनुष्यों को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी गईं । बुद्धि, मन, अहंकार से अन्तःकरण संयुक्त करके जीव योनियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य योनि का कर्त्ता ने निर्माण किया । बुद्धि की श्रेष्ठता इसकी विशेषता है । इसी के द्वारा ज्ञान प्राप्ति, जिससे अनन्त आत्म शक्ति का विकास । अवतारों व श्रेष्ठतम महात्माओं के जीवन में संसार इसका अनुभव करता है । अक्षर अव्यक्त ब्रह्म सत्ता रूप से जगत में विद्यमान है, जैसे राजा की शक्ति अपने राज्य के कोने-कोने में, उसका व्यक्त रूप जगत, जैसे राजा का सारा राज्य और प्रजा । वाष्प में शक्ति अव्यक्त है, मंत्र के संग से वह व्यक्त होती है आत्मा व्यक्त रूप में अकर्त्ता, शरीर की उपाधि से व्यक्त रूप में कर्त्ता, जो क्रम पिण्ड में वही ब्रह्माण्ड में । क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से ऋषियों ने यह तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया है ।

* —शंका—‘दान की वस्तु गाय, भैंस है न कि कन्या’ ।

ये शब्द बड़े भ्रमात्मक हैं । भगवान ने कहा है कि यज्ञ, दान, तपादि श्रेष्ठ कर्म मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं । इन्हें वह सदा त्याग भावना से करे । त्याग उन्नति का मूलाधार है । प्रत्येक त्याग मनुष्य को किसी न किसी दोष से मुक्त करने में सहायक होता है ।

* लेख नं० २० देखिये

आत्मा की अनन्त शक्ति के विकास को अहमता और ममता रूपी बेड़ियाँ रोकती हैं। त्याग इन्हें काटने का एक सरल उपाय है।

स्वार्थ पूर्ति में जिससे जितना सम्बन्ध बढ़ता है उतनी ही ममता उसमें उत्पन्न होकर उसका मूल्य निज की दृष्टि में बढ़ जाता है। उसके त्याग में जो वेदना व्यवस्था बस सहनी पड़ती है, वह तप है। ऐसे तप से बेड़ी कटती है। विवाह संस्कार के पवित्र अवसर पर स्नेही माता-पिता अपनी प्रिय कन्या का दान कर दूसरे परिवार को अर्पण करते हैं। यह उनके जीवन का एक महायज्ञ है। इस दृष्टि से गाय भैंस के दान की अपेक्षा कन्या दान कितनी उच्च श्रेणी का है, संशयात्मा विवेक बुद्धि द्वारा इसको खूब समझे।

षरमार्थ के निमित्त स्वार्थ का त्याग, यह दान का पवित्र स्वरूप है। संसार चक्र में युवती के (दाम्पत्य) जीवन की योग्य व्यवस्था पर-मार्थ है। मानव हृदय में यह भावना शुभ संस्कार उत्पन्न करती है। दान का स्थान हृदय है।

इच्छाओं को आग लगा दे ॥
वीर वही जो विषय वासनाओं
को मार भगा दे ॥
संग त्याग बन मित्र असंगी,
निस्पृह प्रेम मगा दे ॥
हो 'विदेह' निर्लेप जगत में,
निर्मल ज्योति जगा दे ॥

(दादरा) बिना पति सुनो सब संसार ॥
पति ही जप है पति ही तप है, पति ही है करतार ।
पति ही सौ पत है, इस तन की पति पत राखन हार ॥
जब लगि पत है तब लौं पत है, बिन पति विपत हजार ।
एक पति जब नाहीं जगत में, सो सब करत असार ॥

(९)

करम गति टारे नाहिं टरे ।

‘गहना कर्मशोगतिः’

शंका—“आपको भविष्यतवाणी में कहाँ तक विश्वास है ? जीवन में इसका कितना प्रभाव पड़ता है ? यदि सब ही पूर्व व्यवस्थित ही हैं, तो कर्म का जीवन में क्या स्थान है ? कभी-कभी तो श्रद्धा उठने लगती है यह देखकर, कि दैवी प्रकृति वाले हर जगह कष्ट उठाते हैं, और जो आसुरी प्रकृति के लोग हैं वे फलते हैं।”

उत्तर—प्रकृति के नियमों की सूक्ष्मता तथा उनकी अनन्तता का पारा-वार नहीं । जितना मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उनको खोजता है, उतना ही विस्तार उन नियमों का बढ़ता दीखता है । अतः प्रत्येक शाखा में योग्य पुरुषों द्वारा अनुसंधान सदा चलता रहता है । ज्योतिष विद्या के विषय में भी यही नियम है । वह चाहे आज पूर्ण मानी जावे, परन्तु उपरोक्त व्याख्यानुसार उसको और विद्याओं के समान अपूर्ण ही समझना चाहिये । अपूर्ण से पूर्णता की प्राप्ति सम्भव नहीं । अतः जो कुछ भविष्यतवाणी होती है उसमें एक तो अपूर्ण विद्या में पूर्णता का अभाव, और दूसरे उससे भी अधिक त्रुटि, योग्य कहलाने वाले ज्योतिष विद्या के धुरन्धर पण्डितों की निजी अपूर्णता—इन दोनों कारणों से यह सच्ची धारणा नहीं बनती, कि जो कुछ भविष्यतवाणी वे करते हैं, वह सब ध्रुव सत्य ही होगा । कर्म सिद्धान्त के सामने ज्योतिष विद्या के सारे प्रकाशन स्थूल से ही लगते हैं, यद्यपि संसार के जीवन में यह सब बड़े उपयोगी रहते हैं ।

कर्म की गति पूर्ण होने से बड़ी गहन है । “कर्म प्रधान विश्व रच राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा”—यह नियम अटल और पूर्ण

है—इस ध्रुव नियम में विश्वासी के लिए भविष्यत वाणी का—यदि क्षण भर के लिए इसे सत्य भी मान लिया जाये, कि ज्योतिष विद्या पूर्ण हो चुकी है और उसका उपयोग करने वाले ज्योतिषी सिद्धताई की स्थिति को प्राप्त हुए जो भविष्यत वाणी करेंगे, वह ध्रुव सत्य ही निकलेगा—महत्व कुछ नहीं रहता है।

पूर्व कर्मों का, प्रारब्ध रूप धारण किए शुभ अथवा अशुभ फल प्राणों को अवश्य भोगना होगा। एक अटल बात है तो उसका उपचार क्या ?

भविष्यत वाणी में शुभ अशुभ दोनों फल मिले होते हैं। शुभ से आशा बँधती है। किन्तु विद्या तथा ज्योतिषी जी की अपूर्णतावश विपरीत दशा में निराशा सहनी पड़ती है, और अशुभ बात द्वारा साधारणतया मन भयभीत हो जाने से हृदय में दुर्बलता आती है।

अशुभ के उपचार में, बताने वाले का स्वार्थ अधिकतर धन प्राप्ति रूप में रहता है यद्यपि ऐसे भी परोपकारी पंडित हैं जो निस्वार्थ भाव से यज्ञ, दान, तपादि पावनकारी क्रियाओं को उपचार रूप में बताते हैं। अशुभ से छुटकारा पाने के लोभ में व्यक्ति स्वार्थवश इन क्रियाओं में लगन सहित लगता है। ये अपनी पावन शक्ति द्वारा, शनैः शनैः अदृश्य रूप से, प्रभाव डालकर उससे दैनिक व्यवहार में शुभ का अंश बढ़ाने में सहायक होती हैं, जिससे उसका भविष्य उन्नति की ओर होने लगता है।

मनुष्य भाग्य और पुरुषार्थ का पुतला है। भाग्य—जो पूर्व कर्मों का परिणाम है—अटल है। भूत उसके वश के बाहर है, परन्तु भविष्य सदा उसके हाथ में रहता है। इस पर उसका विवेक बुद्धि के नाते, जो भगवान ने मनुष्य योनि को ही प्रदान की है, पूरा अधिकार है। ईश्वर अन्तर्यामी रूप में हृदय पट पर स्वयं विराजकर, प्रत्येक क्षण शुभ और अशुभ को अचूक प्रकार से जताते रहते हैं। भगवान से निश्चयात्मक बुद्धि की स्वतन्त्रता प्राप्त मनुष्य को अधिकार है, कि वह इस अन्तःकरण स्थित देव की वाणी को सुनकर उसे माने या ठूकरावे। मानने वाला कल्याण पथ की ओर अग्रसर होता है। भाग्यरूपी शुभाशुभ संस्कार, इन नये संस्कारों से मिलकर, भविष्य पर भला बुरा प्रभाव डालते हैं।

भाग्यरूपी संस्कारों का क्षय, भोगने के अतिरक्ति और किसी

प्रकार नहीं हो सकता। पूर्व कर्म फलों के दो प्रकार हैं—एक जिसमें कर्म फल परिपक्व होकर भाग्य रूप बन चुके हैं, दूसरा जिसमें वे संचित हैं, अर्थात् अभी तक भाग्य रूप परिपक्वता को नहीं पहुँचे हैं। जिनके भाग्य शुभ हैं, वे फलते फूलले दिखाई देते हैं, चाहे वर्तमान में वे अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर भविष्य में अपने लिए काँटे क्यों न बोयें। इसके प्रतिकूल अशुभ भाग्य वालों को जीवन में दुःख सन्ताप सहकर अपने संस्कारों का क्षय करना पड़ता है। इन दुःखों से छुटकारा पाने की अभिलाषा उनका मुख स्वयंमेव शुभ कर्मों की ओर फेरती है; परिणाम स्वरूप वे भविष्य को अशुभ से शुभ की ओर करने में सफल होते हैं।

अतः जीवन में कर्म का स्थान अति महान है। पूर्व व्यवस्थित इतना ही है, जो भाग्य बन चुका है। उसका ही प्रदर्शन “कष्ट उठाने” तथा “फलते रहने” में संसार को दीखता है। धर्मशील पूर्व संस्कार वश उधर ही अधिक बढ़ेंगे और पापी दुःखों से पाठ सीख कर धर्म की ओर झुकेंगे। इसी प्रकार कहीं पूर्व संस्कारवश पापी अधिक पापी होकर नरक की ओर क्रमशः गिरेंगे, जहाँ से उनके नेत्र उन्नति की ओर होंगे। यह कर्ता के नियमों में व्यवस्थित है।

हिन्दू दर्शन शास्त्र का आधार अविनाशी आत्मा है, जो भगवान का अंश है। इस शास्त्र के मुख्य अंग हैं, पुनर्जन्म और कर्म सिद्धांत। आत्मा कर्म बन्धन में पड़कर जीव रूप धारण करती है। आदि में किस प्रकार बंधन में आई, इस विषय में अटकलें चाहे लगा ली जावें परन्तु निश्चय कुछ नहीं। अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति श्रुति देवी अवश्य बताती है, अर्थात् देहाभिमान से मुक्त होकर भगवान में तद्रूपता प्राप्त करना—सच्चिदानन्द में लय होना, नर से नारायण बनना।

आत्मा सत्य वस्तु है। योगियों ने समाधि में इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर संसार को घोषित किया है, कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि के परे आत्मा है। इन सबको अभ्यास द्वारा अपने अधिकार में लाकर, अन्त में इनसे नाता तोड़ जब योगी ध्यानावस्थित होकर ध्यान और ध्येय एक हो जाने की अवस्था में आता है, तब उसको आत्मा का प्रत्यक्ष बोध होना कहा गया है। यह अवस्था केवल अनुभवनीय है, कथनीय नहीं। देश-देशान्तरों के तथा युग-युग के योगियों का अनुभव इस विषय में समान है।

प्राणी वैचित्र्य—गुण कर्म स्वभाव की भिन्नता से, ऊँच-नीच, राजा-रंक, धनवान-दरिद्री, सुखी-दुःखी, ज्ञानी-अज्ञानी, बुद्धिमान-मूर्ख, स्वस्थ-रोगी, बलवान-निर्बल इत्यादि जितने द्वन्द्व संसार में दीखते हैं इन सबकी सत्यता इन सिद्धान्तों से पूर्णतया प्रगट होती है, संशय के लिए स्थान ही नहीं रहता ।

जिनका विश्वास इन ध्रुव सिद्धान्तों में दृढ़ है, उनके लिए इन विषयों में मन की अस्थिरता को कहाँ स्थान ।

ऊपर लिखी व्याख्या युक्ति युक्त होने से बुद्धि गम्य है । प्रत्येक मनुष्य के जीवन के अनुभवों से इस विश्वास का दृढ़ होना सम्भव है ।

और विद्याओं के सदृश ज्योतिष विद्या के भी उपयोग का, जिसे वैज्ञानिकों ने सदा से संसार के हितार्थ बड़ी सफलता पूर्वक किया है, चमत्कार देखकर किस को भविष्यत वाणी पर विश्वास करना अनुचित लग सकता है, परन्तु आध्यात्मिक विषयों में, जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्म विपाक से है, सब विद्यायें अपूर्ण ही रहती हैं—ज्योतिष विद्या इस विषय में इनसे पृथक नहीं ।



अरे यह सब माया के रूप ॥

इन सब माया के रूपों में, भूल न अपना रूप ॥

सब माया भ्रमती छाया है, तू है अलख अरूप ॥

निज सुन्दरता पर मोहित हो, अपना निरख स्वरूप ॥

रूप सुरूप कुरूप रूप में, खोया शुद्ध स्वरूप ॥

बच 'विदेह' चंचल माया के विविध विकार विरूप ॥



(१०)

समदर्शित्व-आध्यात्मिक विकास— चरित्र संगठन

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में, स्थिति के अनुसार उलझने व समस्याएँ आती हैं। उनसे सुख का आभास तो दब जाता है और दुःख का उभरता है। व्याकुलता से खोज की प्रेरणा होती है, कि क्या कोई ऐसा मार्ग है जिसको पकड़ने से इस दुःख से छुट्टी मिले। तत्त्ववेत्ताओं के दिखाये हुये मार्ग का पता लगने पर श्रद्धा और उसके अनुसार अभ्यास से क्रमशः उन्नति स्वयं होने लगती है, जिससे आन्तरिक प्रेरणा मिलती है। यह मार्ग क्या है ? संसार चक्र के चलाने में अपने को एक कण के समान अनुभव करके, सबके साथ अपनी योग्यतानुसार सहयोग करना ; कुटुम्ब से लेकर विश्व तक की सुव्यवस्था के लिए अपने गुण व स्वभावानुकूल कर्तव्य अथवा प्राप्त कर्मों को उत्साहपूर्वक तत्परता से करते रहना, व्यक्तिगत स्वार्थ को परमार्थ में लय कर देना। ज्यों-ज्यों मनुष्य इस मार्ग में उन्नति करता है, उसमें निस्वार्थता, स्वावलम्बन, निर्भयता, साहस, धैर्य इत्यादि गुणों की शनैः शनैः वृद्धि होती है, और मलिनता कटते-कटते मन शुद्ध होने पर द्वेष, ईर्ष्या, तिरस्कार, घृणा के दोषयुक्त भाव घटते और प्रेम एवं सौजन्यता के भाव बढ़ते हैं। ज्यों-ज्यों प्रेम परधि बढ़ती है उसको आन्तरिक सुख व शान्ति का अनुभव होता है। क्यों प्रेम करना चाहिये 'इसका यही उत्तर है। सबसे प्रेम करने के मार्ग से ही मनुष्य में उत्तमोत्तम गुणों का विकास होता है। जितना मनुष्य स्वार्थ में लिपटा रहेगा उतना ही वह दीन परावलम्बी कृपण व दुःखी होगा। जीव संसार में, मनुष्य की विशेषता बुद्धि में है। इसके प्रताप से ही वह प्रकृति पर इतनी विजय पाये हुये हैं कि अब चन्द्रलोक की यात्रा तक के स्वप्न दीखने लगे हैं। इस के आश्रय से आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जो-जो अनुसंधान अबतक योग और तत्त्वविचार द्वारा ऋषियों ने किये हैं उन पर दृष्टि डालने से यह भ्रमात्मक विचार दूर होगा कि यह "असंभव माँग है कि हमको अपने

कहलाने वालों से प्रेम करना ही चाहिए ।”

“समदर्शित्व का क्या व्यावहारिक उपयोग होना चाहिए”—दर्पण जैसा जिसका स्वरूप होता है बिना किसी राग द्वेष के उसके सामने वैसा ही उपस्थित कर देता है । मुख पर किसी प्रकार की कालिमा लगी होगी तो उसके दर्शाने में हेर फेर न करेगा और न सुन्दरता के चिन्हों को सामने रखने में किसी प्रकार की न्यूनता । स्वयं जितना निर्मल तथा उत्तम श्रेणी का होगा उतनी ही सच्चाई के साथ वह प्रतिबिम्बित करने का कार्य करेगा, साथ ही उस पर इस कार्य का प्रभाव कुछ भी शेष नहीं रहेगा—मनुष्य सामने से हटा कि वह जैसे का तैसा । सच्चे समदर्शी के हृदय की स्थिति ऐसी ही होती है । दर्पण की स्वच्छता को जैसे मसालों की मलाई द्वारा बनाए रखना जाता है उसी प्रकार हृदय की शुद्धता के लिये समदर्शित्व अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम चाहिये । यह परमेश्वर के वास्तविक और यथार्थ स्वरूप को जानने से ही प्राप्त होता है ।

दूसरे के उपदेशों से कुछ नहीं बनता, जो कुछ बनता है स्वयं अपनी आन्तरिक शक्ति से ही प्राप्त होता है । भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है, कि मनुष्य अपने को आप ही ऊपर उठावे, अधोगति में न गिरने दे; स्वयं वह आप अपने को उठाने के कारण अपना बन्धु है और गिराने के कारण शत्रु । किन्तु अपने को उठाने की शक्ति कहाँ पाये । भगवान् का कथन है कि शरीर से अधिक शक्तिशाली इन्द्रियाँ हैं, ये जिधर प्रेरणा करती हैं वह उधर ही जाता है । इनसे अधिक शक्तिशाली मन । यह इन्द्रियों को जिधर ले जाता है वह उधर ही विचरती हैं, मन से अधिक शक्तिशाली बुद्धि; जिस ओर बुद्धि भुकेगी उसी ओर मन जायेगा । इस मन को शासन द्वारा यथार्थ मार्ग पर लगाने वाली बुद्धि ही है, और बुद्धि से भी अत्यन्त शक्तिशाली जो जीव के हृदय, प्रत्येक अंग तथा शरीर के रोम-रोम में व्यापक, संचालक, आधार, स्वामी, अन्तःकरण स्थित परमेश्वर कहलाता है । वही शक्ति का अखण्ड भण्डार है । उसकी पुकार मनुष्य जितनी पहचानेगा, सुनेगा, और तदनुसार कर्म करेगा उतनी केवल शान्ति ही नहीं, तुष्टि-पुष्टि भी तत्काल पावेगा ।

चारित्रिक विकास—जहाँ तक सामान्य सांसारिक जीवन का सम्बन्ध है, जिसमें जीव को किसी भंवर का सामना नहीं करना पड़ता, और जिसका

प्रवाह एक सरल नियम से चलता रहता है सदाचार का वह अर्थ, जो साधारण मनुष्य की दृष्टि में होता है, अच्छा काम देता है, उससे साधारण कठिनाइयों का निवारण होता रहता है। परन्तु जब असाधारण परिस्थितियों और संकटों का बवंडर आता है, तब मनुष्य को 'ध्रुव तारा' ही मार्ग बताकर पार लगाता है।

“पता नहीं और आध्यात्मिक विकास क्या होता है ?”। कैसे बाल सुलभ वाक्य हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली ही इस शून्यता के लिए उत्तरदायी है, और क्या कहें। किन्तु अनुभव की पाठशाला तो जीवन में सदा खुली रहती है। आगे चलकर समय आता है, कि मनुष्य को सब कुछ प्राप्त होते भी शांति नहीं। ऐसी स्थिति में सांसारिक जीवन के परे के विचार घेरते हैं, और ये ही आध्यात्मिक विकास रूप में, यदि किसी ने इसको अंशमात्र भी प्राप्त किया है काम आते हैं, और अन्धकार में पथ-प्रदर्शक बनते हैं। इसलिए इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए धर्म अनिवार्य है। इस लोक के लिए तो उसकी सार्थकता मानी ही जाती है और इससे आगे की अभी साधारण युवक को चिन्ता ही क्या ?।

“परन्तु इसके आगे धर्म एक व्यर्थ और हानिकारिक वस्तु ही है।” ये घोर भ्रम है। व्यर्थ और हानिकारक तो वे ही प्रथायें हैं, जो धर्म के नाम पर मानव जाति की देहाभिमान से प्रेरित दुर्बलतायें हैं। धर्म अर्थात् सत्य एक है, ऋषियों ने उसे भिन्न-भिन्न प्रकार बखाना है। शुद्ध धार्मिक विचार में अहंकार के लिए स्थान नहीं। इसलिए किसी को अपने से अधम समझने की इसमें सम्भावना नहीं। स्वामी विवेकानन्द का उदाहरण-दृढ़ नास्तिक से आस्तिक बन जाना यह परिवर्तन की सीमा है। विश्वास में सच्चाई होनी चाहिए, अहंकार के आधार से परे। जो है उससे दूसरा भाव झूठा यश लूटने के निमित्त पाखण्ड में दिखाया जाता है, परन्तु सच्चाई के साथ प्रयत्न करने के मार्ग को चाहे उसमें सफलता भले ही प्राप्त न हो रही हो, पाखण्ड कहने वाले की दृष्टि का ही दोष समझना चाहिये।

किसी व्यक्ति का स्वाभाविक आकर्षण विज्ञान की ओर है; उसकी पूर्ति में बुद्धि के आधार पर वह आगे बढ़ता है। दूसरे को यह प्रेरणा होती है, कि अहम् जो अविनाशी है वह क्या वस्तु है। संसार के विज्ञानवेत्ता

इस खोज में बुद्धि के आधार पर बराबर लगे हैं, परन्तु भारतवर्ष के ऋषियों ने अपनी आन्तरिक तीन स्थितियों—जागृत स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नरहित निद्रा का—निरीक्षण व मनन करते करते—ये भी सब बुद्धि के ही आधार पर—एक चौथी व्यवस्था को भी पा लिया जिसका नाम तुरिया है—जिसको समाधि कहा है—और अनुभव से देखा कि अभ्यासी को, यदि भगवान की कृपा हो जावे तो यह प्राप्त होती है। इस अवस्था में मन लय व शान्त हो जाता है, इसलिए यह चित्त, बुद्धि, और इन्द्रियों के परे की अवस्था कहलाती है। जीवन मुक्तों के वाक्य हैं, कि जीव इस अवस्था में परमानन्द अनुभव करता है। संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख की खोज में लगा रहता है। भौतिक संसार में इन्द्रिय सुख का अनुभव होता है, परन्तु ये स्थायी नहीं। इन्द्रियों के सब सुख होने पर भी मन यदि किसी कारणवश अशान्त है, तो चैन नहीं मिलता। मन को शान्त करने की विधि का नाम धर्म है, जिसका अर्थ है सत्य वस्तु से नाता जोड़ना। धर्म के मार्ग में अभ्यास करने से मनुष्य को अहम के सच्चे स्वरूप का बोध होता है। इसी का नाम आध्यात्मिक विकास है। धर्म के मार्ग की प्रारम्भिक अवस्थाओं के अन्तर्गत वे सब चरित्र सम्बन्धी नियम आते हैं, जिनको निभाये बिना पथिक आगे नहीं बढ़ सकता। अतः सामाजिक व्यवस्था स्थिर रखने के लिए धर्म आवश्यक है। उन्नति प्राप्त मनुष्यों में निर्भयता और त्याग इतना उत्पन्न हो जाता है, कि वे संसार को हिला देते हैं और शनैः शनैः परम पद पा जाते हैं। जितेन्द्रिय बने रहने की प्रबल अभिलाषा उसी मनुष्य में दृढ़ होती है जिसका यह निश्चय है, कि वह इस मार्ग द्वारा अमृत पद अवश्य पा लेगा।

“हमें तो शक है कि मनुष्य के जीवन का ध्येय सुख शांति है भी या नहीं”—अन्तिम ध्येय जो कुछ भी माना जावे, परन्तु यह निर्विवाद है कि उसकी पूर्ति में मनुष्य बुद्धि के सहारे प्रारम्भ में उन मार्गों की खोज में रहता है, जिनमें कांटे जो होते ही हैं—कम से कम हों और सफलता अधिक से अधिक। कांटों को हटाकर अपने मार्ग में अग्रसर होना ही आत्म विकास की सीढ़ी पर ऊँचे उठना कहलाता है। जितना ध्येय दुष्प्राप्य होगा और जितनी दृढ़ता उसको प्राप्त करने की होगी उतनी ही शक्ति का विकास होगा; मनुष्य की मनुष्यता इसमें ही व्यवस्थित है। पूर्ण विकास के लिए उच्चतम ध्येय का होना आवश्यक है। परमानन्द के ध्येय से

बढ़कर मनुष्य को अब तक कोई दूसरा ध्येय संसार में दीखा ही नहीं। किसी भी मध्यम 'गोल' (ध्येय) से ऊँचा उठे, ज्यों-ज्यों उठेगा उसकी दृष्टि फैलेगी और अन्त में सुख शांति के ध्येय पर सीमित हो कर टिकेगी। इससे आगे का मार्ग उसकी ज्ञान दृष्टि से अगोचर है, विशेषकर इस विज्ञान के युग में, जब संसार सिकुड़ कर इतना छोटा हो गया है; ऐसी दशा में कोई मध्यम श्रेणी का ध्येय मनुष्य में मनुष्यता का विकास उत्पन्न करने में असमर्थ है। विज्ञान के प्रताप से आज पूर्ण मनुष्यता का ध्येय सारे संसार को प्रभावित कर रहा है। जितना महान ध्येय उतनी ही महान चेष्टा, फिर सुख शान्ति के ध्येय से कम से कम कैसे इस युग में काम चले। काम तो कभी नहीं चला किन्तु समय टल नहीं रहा था। अब जब संसार विज्ञान की उग्रता से प्रलय के किनारे खड़ा हो गया है, तब तो ध्येय की इस शिखरता को मानना ही होगा।

“मनुष्य अपने ही विचार से काम लेता है” जब व्यक्ति बुद्धिगम्य बातों व विधियों में दृढ़ विश्वासी समझा गया, तब जो सैद्धान्तिक तत्वों के सहारे विचार आए लिखकर भेजे उनको यदि युक्ति युक्त समझें तो उन पर विचार करें अन्यथा एक ओर डाल दें।

अपने विचारों को प्रकट करने का इतना ही अभिप्राय है कि वे पढ़ लिए जावें, उनको मानना न मानना, सहमत होना न होना यह तो पढ़ने वाले की इच्छा, दृष्टिकोण व बुद्धि पर निर्भर है।

सन्तान निग्रह के विषय में—इस संबंध में आधुनिक विधि का प्रचार सभ्य कहलाने वाले देशों में बढ़ रहा है। इस लहर को कोई रोक नहीं सकता। नई बात के प्रारम्भ में गुण ही गुण दीखते हैं। प्रयोग के पश्चात् कालान्तर में जब उसकी हानियाँ दीखने लगती हैं तब पता चलता है कि अप्राकृतिक संयोगों में कैसे-कैसे दुःख भरे हैं और तभी मनुष्य की आँखें खुलती हैं। संतान निग्रह की नूतन विधि के हानि लाभ पर इतना अधिक विवाद हो चुका है कि अन्तिम निर्णय कठिन है। अपनी रुचि पर निर्भर है, जैसे माँस भक्षण, धूम्र तथा मदिरापान इत्यादि। सन्तान के विषय में संयम की ओर इतनी उदासीनता क्यों, उसे पूरा महत्व क्यों नहीं दिया जाता। जब बुद्धि के सहारे और वृत्तियों के वेग पर रोक लगाना असम्भव नहीं तो इस विषय में ही इतनी हार क्यों मानी जावे।



उपनिषदों के भूले हुए ज्ञान को व्यवहार द्वारा सजीव बनाइये ।

“शूद्र को वेद पढ़ना मना क्यों ?”—इस नियम में, कि शूद्र वेद न पढ़ें, तत्त्व की बात यह है, कि तामसिक वृत्ति वाले मनुष्य शिक्षा का भी दुरुपयोग ही करते हैं, जैसे विज्ञान में निपुणता प्राप्त कर चोरी व डकैती में सफलता पाना । गुण, कर्म, स्वभाव से जो शूद्र माना जाय, उसे वेद पढ़ने का अधिकार न देना ही अच्छा । किन्तु जाति भेद की तात्त्विकता तो मिट गई, और युग बदलने पर ढांचा रह गया । प्रयत्नशील जिज्ञासु पुरुष व स्त्री के लिए निस्सन्देह कोई रोक न होनी चाहिए, उसको अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँचने में सब ओर से सहायता का वातावरण मिले, यही सुव्यवस्थित समाज व जाति का एक मुख्य लक्षण है ।

“कौन तय करेगा कि कौन स्वभाव से शूद्र है ?”—प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता । किसी का रंग काला है अथवा गोरा—यह तो वहाँ निर्णय करने की बात है, जहाँ काले गोरे का मेल हो, परन्तु नीग्रों को काला कहने में क्या हिचक । इस प्रकार घोर तामसिक स्वभाव वाले को शूद्र कहने में क्या हिचक ।

गीता में क्या सार है यह तो वे ही जानते हैं, जो उसका अध्ययन करते हैं । उसके प्रत्येक उपदेश को मानना मनुष्य अपनी बुद्धि से चाहे प्रारम्भ में, आवश्यक न समझे, परन्तु जब अध्ययन करते-करते तर्क बुद्धि को अपूर्व संतोष व शान्ति प्राप्त हो, तब अनावश्यक समझने का प्रश्न ही तय हो जाता है । आरम्भ में थोड़ी श्रद्धा का होना आवश्यक है, नहीं तो “जैसी जिसकी मति वैसी उसकी गति” । किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य अध्ययन द्वारा प्रेम व आनन्द रस चखता है, त्यों-त्यों शब्दों में भगवान-मयता व्यापने लगती है ।

“प्रत्येक धर्म की पुस्तकों में भगवान के कहे शब्द माने जाते हैं” अवश्य, सच्चे अनुयायी के लिए वे ऐसे ही हैं। सत्य एक है, विप्र उसको भिन्न-भिन्न प्रकार से बखानते हैं। किसी भी धर्म के अवतारी पुरुष द्वारा कहे शब्दों में तात्त्विक भिन्नता नहीं। यह मनुष्य के अहंकार से उत्पन्न हो जाती है।

“पहले तो हमें भगवान की साधारण कल्पना जो है, वह बड़ी भ्रमात्मक लगती है”—जितने भिन्न-भिन्न प्राणी उतने भिन्न-भिन्न देवता, व्यक्तिगत स्वार्थ एवं कामनाओं के संकल्पों से देवताओं का निर्माण मनुष्यों के मस्तिष्क व हृदय में होता है। गीता का भगवान सब चराचर में व्याप्त एक रस, इस एक अक्षर ब्रह्मा के सृष्टि में अनन्त रूप इन्द्रिय गोचर होते हैं। अव्यक्त स्वरूप ही भगवान का सत्य स्वरूप है, यह इन्द्रिय मन बुद्धि के परे है, इसकी प्रतीति केवल आत्मा में ही होती है, बुद्धि उसकी ओर निश्चय रूप से संकेत करती है और अन्त में ग्रहण करती है, परन्तु वाणी उसका बखान नहीं कर सकती।

“गीता ३-४ हजार वर्ष पुरानी है, तबसे समाज की व्यवस्था बहुत बदल गयी है”—गीता में अटल सिद्धान्तों का वर्णन है, वे काल, जाति, देश, युगादि के भेदों की सीमाओं के परे हैं, अतः प्रत्येक काल, देश, और जाति के लिए उपयोगी हैं, सृष्टि का चक्र सर्वात्म भगवान का चलाया हुआ है, इसको संचालित रखने के निमित्त, प्रत्येक व्यक्ति को सूर्य सदृश स्वार्थ रहित निष्काम भाव से, अपने भाग का अपनी योग्यतानुसार, जीवन पर्यन्त कर्म करना। कर्म का त्याग कभी हो ही नहीं सकता। बिना कर्म के शरीर भी नहीं रह सकता। कर्म करने का अधिकार मनुष्य को प्राप्त है, परन्तु फल पर उसका वश नहीं। कर्म के साथ फल छाया के सदृश पीछे लगा रहता है, किन्तु उसके अन्तिम स्वरूप के निर्माण में अनेक भिन्न-भिन्न अदृश्य कारण होते हैं, अतः जैसा मनुष्य सोचे या प्रयत्न करे, वैसा ही फल मिले यह आवश्यक नहीं। जब उस पर अधिकार ही नहीं, तो आसक्ति व्यर्थ ही नहीं, असफलता में दुःख पहुँचाने के कारण हानिकारक भी है, अतः त्याज्य है। निष्काम वृत्ति की दृढ़ता के लिए भक्ति मार्ग का अवलम्बन आवश्यक है। ‘भक्ति किसकी?’ अपने-अपने इष्टदेव की। ‘इष्टदेव कौन है?’—जैसी जिसकी भावना वैसा ही उसका इष्टदेव, और वैसा ही उसके लिए फल भी। निष्काम भाव से कर्म करने वाले विवेकी पुरुषों

की धारणा हो जाती है, कि परमेश्वर प्राणीमात्र में व्याप्त है आत्मा का समष्टि भाव परमात्मा है, और उसकी उपासना का अर्थ है, सबको एक ही आत्मा के अनेक रूप समझकर सबके साथ प्रेम तथा आदर सम्मान का व्यवहार करना। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके गुण कर्म स्वभाव पर निर्भर है, परन्तु आत्मा का डोरा सब दानों में एक ही पुरा है; इसलिए समभाव रखकर किसी से ईर्ष्या, द्वेष, भेदभाव न करना। यह ब्रह्म विद्या राज विद्या है, संसार की सब विद्याओं का मूल इसी विद्या में है। गीता में यही भगवान का गाया हुआ देव गान है। समाज के रूप में कुछ भी परिवर्तन हो, परन्तु यह अटल अविनाशी सत्य तो ज्यों का त्यों ही बना रहता है।

“अच्छाई और बुराई के नियम तो उस समाज पर अवलम्बित हैं, जिसमें मनुष्य को जीवन बिताना होता है”—यह साधारणतया सत्य है। “हिन्दू धर्म कैसा भी महान और श्रेष्ठ कभी रहा हो, इस युग में तो इतना दलित दृष्टिगोचर होता है, कि उसमें व्यर्थ के आडम्बरो के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।”—आधुनिक काल के हिन्दुओं की यह दशा साधारणतया निर्विवाद है, यद्यपि धर्म सत्यरूप में पूर्ववत् महान ही है।

“इसमें संशय नहीं कि उपनिषदों में अपूर्व ज्ञान भरा है।” यदि यह सत्य धारणा है, और श्रद्धालु की महान पुरुषों के वचनों में इतनी श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है, तो उस ज्ञान के व्यवहार दर्शन की ओर उसका ध्यान लगना चाहिये, जिससे ‘जिन खोजा तिन पाइयां’ की सत्यता झलकने लगे।

“हिन्दू कहलाने वाला साधारण व्यक्ति इस ज्ञान से इतना अनविज्ञ है, जितना एक विदेशी”। यह अपने देश की अब तक की शिक्षा प्रणाली का दोष ही है, जिसके कारण अपने रत्न सब मिट्टी में ढके पड़े हैं, और विचारवान युवक भी आडम्बरी विकारों की घृणा में लिप्त, उन रत्नों की ओर ध्यान न देकर दूसरे आधुनिक परन्तु मध्यम आदर्शों की ओर प्रायः आकर्षित होते हैं, यद्यपि अनुभव प्राप्त होने पर उनको पूर्ण सत्य का प्रकाश मिले बिना नहीं रहता, और आरम्भ में जो अज्ञान के कारण बड़े तर्की व अश्रद्धालु रहे, वे ही प्रकाश आने पर अन्त में दृढ़व्रती उपासक बन गये।

सत्य ग्रहण करने के उद्देश्य से शब्दों के अतिरिक्त वक्ता के हृदय को

भी देखना चाहिए। शब्द तथा काम करने की विधि चाहे कैसी दीखे, परन्तु उद्देश्य से ही वास्तविक स्वरूप का निर्णय होता है। एक सुशिक्षित निपुण परिचारिका शिशु को बड़े प्यार से संभाल कर रखने में अपनी योग्यता पैसा कमाने के उद्देश्य से दिखाती है, वही प्यार माता अपने मातृ भाव से। कर्म एक सा होने पर भी कितना अन्तर। भगवान के उपदेशों में भी है, कि स्वार्थ में आसक्त अविद्वान लोग जिस लगन से काम करते हैं, विद्वान को चाहिए कि वैसी ही लगन काम करने में रखे, पर उद्देश्य स्वार्थ की अपेक्षा लोक संग्रह का हो, अर्थात् जिनसे सम्बन्ध हो उनके कल्याण का ध्यान रहे। आदर्श कठिन होने पर भी भावना कैसी प्रबल जागृत करता है।

जिस समय जो कुछ अपनी सम्मति में दूसरे के हितार्थ उचित दीखता है वही लिखा जाता है, इतना ध्यान अवश्य रखकर कि कहीं किसी बात का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। आगे जितनी व जैसा दूसरे की धारणा अथवा बुद्धि काम करेगी, उतना ही वह उससे सार व असार निकालेगा। यह विश्वास मन में सदा रहना चाहिए, कि यद्यपि भाषा सीधी-सादी बोल-चाल की है, परन्तु जो उपदेश उसमें हैं, वे भारत देश-की प्राचीन संस्कृति द्वारा पूर्णता प्राप्त दर्शन-शास्त्र के अनमोल रत्न हैं; इसलिए जिस व्यक्ति की नसों में भारत भूमि का रक्त बहता है, उस पर कभी न कभी आगे-पीछे दृश्य अथवा अदृश्य रूप में प्रभाव डाले बिना नहीं रहेंगे। किसी बात का तत्व उसमें प्रवेश करने से ही मिलता है। इसके लिए सच्ची जिज्ञासा आवश्यक है। भूमि में दबे अनमोल पदार्थ उसे ही मिलते हैं जो खोदता है।

“प्रत्येक धर्म में धार्मिक ग्रन्थों को ईश्वरीय शब्द माना जाता है।” भगवान का नाम जोड़ देने से उपदेशों में कोई विशेष बात दूसरे को दिखने लगेगी ऐसी आशा से वह शब्द नहीं जोड़ा जाता। वह तो इसलिए जोड़ा जाता है कि अपनी सरल बुद्धि में अथवा अपने जीवन काल के अनुभवों द्वारा जो बातें ग्राह्य एवं उपयोगी पाई गई, वे मनुष्य रूप में पूर्ण “भगवान” की कही हैं। अतः उन वाक्यों में भी अटल श्रद्धा होने लगी जिन तक कि अपनी बुद्धि व अनुभव की पहुँच न दीखी। धार्मिक ग्रन्थों को ईश्वर के शब्द मानने में यदि बुद्धि पहले आती है और पीछे श्रद्धा, तो विवेकी को

उसका सत्कार करने में कोई आपत्ति नहीं यह विश्वास रहते हुए, कि निर्मल श्रेष्ठ बुद्धि के सहारे कही हुई अथवा मानी हुई बातों में दूसरी सम्प्रदाय तथा धर्म के भेदभाव या प्रतिकूलता की सम्भावना नहीं रहती। बुद्धि के विकास के अनुसार मार्ग में आगे पीछे रहें, परन्तु ध्येय तो एक ही होगा। किन्तु जहाँ श्रद्धा को अधिक महत्व देकर बुद्धि को पीछे रक्खा जाता है, वहाँ विवेकी को अवश्य अपवाद का अवसर हो जावेगा।

“यह तो समाज और व्यक्ति का झगड़ा पुराना चला आता है”— समाज का झगड़ा कैसा ? वह कर थोड़े ही लगाती है। अपनी ही तुष्टि व पुष्टि के लिए (तुष्टि सुख, चैन व शान्ति, पुष्टि उन्नति व आत्म विकास) समाज की सेवा में मनुष्य अपने ऊपर जो कुछ भार स्वयं रख ले। श्रेष्ठतम वैज्ञानिक का सम्बन्ध चाहे प्रचलित धर्म युक्त बातों से न माना जावे, परन्तु साधारण वैज्ञानिक तथा कोई भी भद्र एवं उन्नतिशील पुरुष प्रचलित धर्म युक्त बातों की अवहेलना करके मन में कैसे शान्त रह सकता है, यह ध्यान देने की बात है।

“पर इसके आगे संसार के भोगों का त्याग मुझे तो व्यर्थ में जीवन नष्ट करना ही लगता है।” ऐसे त्याग के लिए किसी को सम्मति देने में क्या लगता है। इस प्रकार के त्याग की प्रेरणा तो मनुष्य के अन्तःकरण से ही उपजनी चाहिए, और जहाँ उपजती है वहाँ महान उद्देश्य होता है। उद्देश्य ही उस त्याग की सार्थकता को मापने का दण्ड है। मूढ़ भाव से किया त्याग तो जीवन का ह्रास ही कहावेगा। यद्यपि त्याग ऐसी वस्तु ही नहीं जो गूढ़भाव से निभे उसके लिए तो सब ओर महानता होनी चाहिये।

प्रसंग आने पर ही विचार उठते हैं और लिखे जाते हैं। बिना प्रसंग न तो विचार उठने का अवसर ही रहता है और न बैठे बिठाये उपदेश रूप से लिखना सुहाता ही है। मनुष्य की शक्ति का विकास पूर्ण रूप से हो इसी उन्नति हेतु संयम द्वारा साधन किया जाता है। किसी काम को हेतु से अलग करके देखने से वह जड़ ही दीखेगा। कर्म जड़ है, उसका चमत्कार बुद्धि से ही, जो उससे पीछे रहती है, दीखता है।

“दो व्यक्तियों के विश्वासों तथा आदर्शों में अन्तर हुआ करता है” अन्तर अवश्य होता है परन्तु प्रारम्भिक सैद्धान्तिक नियमों में यह नहीं होना चाहिए। अर्थ समझने में भेद भले ही हो जावे, जो प्रारम्भिक शिक्षा आयु और जीवन में विशेष अवसरों पर प्राप्त अनुभवों के कारण स्वाभाविक है। प्रारम्भिक आवश्यक नियमों पर आरुढ़ रहने से भी बहुत सा साधन स्वयं बन जाता है।

पश्चिम के नियमों के अनुसार वहाँ माता पिता सन्तान के बड़े होने पर लगन सहित केवल दृष्टा बने रहना ही उचित समझते हैं, तो यहाँ पूरव में उनके (सन्तान के) सच्चे हितैषी बने रहना और तदनुसार आचरण करना अपना धर्म समझते हैं। परन्तु इस हित कामना का प्रदर्शन उसी दशा में करना चाहिए जब सन्तान उसको सुनना व समझना चाहे। ऐसा दीखने पर कि वह नहीं चाहते, लगन व धुन को दावे। पश्चिम में आधिभौतिक विचारों की प्रबलता के कारण प्रत्येक बात में व्यक्तित्व की प्रधानता दी जाती है, भारत की पावन संस्कृति में त्याग पर निर्धारित समष्टित्व को। कौन माता-पिता अपने होनहार पुत्र या पुत्री को मातृ-भूमि की सेवा वा उन्नति में भाग लेने से वंचित रहकर विदेश का हो जाने की बात को उचित समझेगा। क्या विदेशी समझेंगे—कदापि नहीं। यह दूसरी बात है कि विशेष परिस्थितिबश इसे स्वीकार करना पड़े। ऐसी दशा में हरिइच्छा प्रधान मानकर स्वेच्छा का समूल त्याग करके हार्दिक आशीर्वाद देते हुए संतोष कर लेना ही बुद्धिमानी है।



(पृष्ठ ४१ का शेष)

प्रभु ! मेरे अवगुण चित न धरौ ।

समदरसी है नाम तिहारौ, चाहौ तो पार करौ ॥

एक नदिया एक नार कहावत मैलोई नीर भरौ ।

दोऊ मिलि जब एक वरन भए, सुरसरि नाम परौ ॥

एक लोहा पूजा में राखत, एक घर वधिक परौ ।

पारस गुण अवगुण नहीं देखत, कंचन करत खरौ ॥

यह माया भ्रम जाल कहावै, सूरदास सिंगरौ ।

अब की बार मोहि पार उतारौ, नहीं प्रन जात टरौ ॥

(१२)

प्रारब्ध कर्म की विलीनता चौरासी लक्ष्य योनियाँ

प्रश्न—“परन्तु क्या मनुष्य ईश्वर आराधना से प्रारब्ध का फल पूर्णतया भेट या फिर हलका नहीं कर सकते ? । पण्डितों से अन्वेषण इत्यादि कराना तो केवल मन को समझाना है । परन्तु यदि स्वयं किया जाये तो क्या उसका भी फल इस जन्म में अशुभ टालने में सहायक न होगा ?”

उत्तर—यह जानकर अच्छा लगा कि तुम्हारे पिछले पत्र में दिये प्रश्न पर भेजे उत्तर से तुम्हें व तुम्हारे सहयोगियों को संतोष हुआ । ऐसे प्रश्न पाने पर प्रबल इच्छा होती है, कि जिज्ञासु और फिर प्रिय आत्मीयजनों के हितार्थ पूरे मनोयोग से लिखे हुए शब्दों द्वारा अपने अनुभव से प्रत्यक्ष हुए शास्त्रोक्त उपदेशों को पहुँचाया जावे । परस्पर के ऐसे ही सम्बन्ध से आन्तरिक शक्ति के विकास का मार्ग बनता है; इसके अभाव में लिखने का एकाकी प्रयत्न अधिक नहीं चल पाता । इस भावना से तुम्हारे ऊपर लिखे हुए प्रश्न का स्वागत किया जाता है ।

“करम लेख नहीं मिटे, करौ कोई लाखन चतुराई”—“करम गति टारे नाँहि टरी”—अनुभवी सन्तजनों और द्रष्टाओं के इन वाक्यों में कर्म की गहन गति का तत्त्व गर्भित है । जिसको शास्त्र अटल कहता है, वह होकर ही रहेगा, किसी प्रकार टल नहीं सकता । भाग्य के सुखदायी फल सुख संतोष और शान्ति प्रदान करते हैं, दुखदायी कष्ट और संताप । सुखदायी से साधारण व्यक्ति के हृदय में राग उत्पन्न होता है तथा दुखदाई से द्वेष । परन्तु जिस आत्मजयी ने ज्ञान और भक्ति पूर्वक निरन्तर अभ्यास द्वारा रागद्वेष की विचलित करने वाली इन वृत्तियों को पराजित करके

दूसरे धन का मूल्य ही दृष्टि में नहीं रह जाता, तब उसको वह स्थिति प्राप्त होती है, जिसका संकेत तुम्हारे ऊपर लिखे हुए प्रश्न में आता है। भगवान ने गीता ४—२३ में इसी बात को स्पष्ट किया है।

ईश्वर आराधना में जितना मनुष्य सत्य भावना सहित उन्नति करेगा, उतनी ही उसके अन्तःकरण, मन, बुद्धि और आत्मा में ऐसी शक्ति का विकास होगा, जो उसके प्रारब्ध के भोगों के—जिनका स्वरूप ध्रुव नियम आश्रित ज्यों का त्यों बना रहने पर भी दुःखों से सफलता पूर्वक संग्राम करने में सहायक होगा।

केवल इस भाँति ही ये प्रारब्ध के फल हलके तथा पूर्णतया विलीन किये जा सकते हैं। इस ध्रुव सैद्धान्तिक विधि के अतिरिक्त, इन कर्म भोगों को छू जाने तक का भी दूसरा मार्ग नहीं।

एक जन्म में अथवा कई जन्मों से ऐसी शक्ति प्राप्त होगी यह तो मनुष्य की श्रद्धा, धृति और पुरुषार्थ पर निर्भर है। यज्ञ, तप, दानादि धर्मयुक्त जीवन के विशेष अंग हैं, मनुष्य के हृदय की मलिनता को धीरे-धीरे काटते हैं। स्वाध्याय और सत्संग द्वारा इनमें श्रद्धा बढ़ती है। अशुभ टालने के लिए अनुष्ठान का प्रारम्भ इन्हीं यज्ञ, दान तप के द्वारा करने का उपदेश इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों ने सदा से दिया है। सत्य भावना जो इन सबका मूलाधार है निश्चय फलदायक होगी।

इस प्रसंग में तुम्हारा ध्यान भाग दो खण्ड पहले के नम्बर ८ (सुख दुःख के अन्दर है) के चौथे पाद पर दिलाया जाता है, जिसमें लिखा है कि सर्वनाश के भय अथवा अत्यधिक निराशा में जब जीव स्वार्थ वश बड़े आर्त्त-भाव से भगवान को पुकारता है तब उसकी स्वार्थ पूर्ण किन्तु हृदय तल से निकली प्रार्थना को सुनकर भी वे परम न्यायकारी के नाते चाहे उसके भाग्य में कोई हस्तक्षेप न करे, परन्तु उसकी लगन से उत्पन्न शरणागत का फल देने से वे सर्व शक्तिमान, कृपापुञ्ज अपनी अतुल दया में चूक नहीं सकते। वह फल भक्त की कामना युक्त भक्ति से निष्काम भक्ति में परिवर्तित होते हुए मिलेगा। इस प्रकार आर्त्त भक्त को सर्वदा लाभ ही लाभ है। भाग्य-वश तथा ईश्वर की अपार महिमा से यदि उसका संकट कट गया, तब तो कृतज्ञता भाव से परिपूर्ण होकर उसकी श्रद्धा में कितने बल का संचार हो जावेगा—इसका अनुमान कर लिया जावे। दूसरी दशा में लगन की प्रब-

लता से उत्पन्न एकाग्रता में हृदय तल से की प्रार्थना अपना शुभकारी शांति-प्रद प्रभाव छोड़े बिना न रहेगी, परमेश्वर के ध्यान में कामना रहित लौ लगाने का पाठ पढ़ा देगी ।

तुम्हारा आगे का प्रश्न—“मनुष्य पूर्व जन्म का प्रारब्ध लेकर आता है । लेकिन जितने मरते हैं उनसे कहीं अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं इस पर आपका क्या विचार होगा ।”

भगवान ने गीता में स्थान-स्थान पर कहा है : २ : १७ में, ‘नये सर्वमिदं ततम्’ । ७ : ६ में, मेरी पर और अपर प्रकृति द्वारा सर्वाणि ‘भूतानि योनीनि’-सब भूतों की उत्पत्ति है । ८ : २२ में, ‘यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्’ । ९ : ४ में, सारे जगत में मैं अव्यक्त रूप से व्याप्त हूँ । १० : ८ में ‘अहं सर्वस्थ, प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’ १० : २० में, सर्व भूत-शय में स्थित आत्मा मैं ही हूँ । १० : ३६ में, चराचर भूतों में कोई उत्पन्न हुई ऐसी वस्तु नहीं जो मेरे बिना हो, सबकी उत्पत्ति का बीज मैं ही हूँ । १३ : २६ में, स्थावर जंगम जिस किसी भी सत्त्व की उत्पत्ति होती है वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, प्रकृति पुरुष, जड़ चेतन के संयोग से है । १४ : ३-४ में, जितनी भी योनियों में भूतियों की उत्पत्ति है उन सबका गर्भ धारण करने वाली महद्ब्रह्म योनि है, और मैं उनका बीज प्रदः पिता हूँ ।

विश्वासी को इन वचनों से निश्चय हो जाना चाहिए, कि जिस सृष्टि को भगवान ने अपनी माया से रचा है, और जिसका वह जीवन है, उसके कण-कण में वह अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, इस प्रकार की वन्दना भक्त्यों करता है—

तूही आधार सकल त्रिभुवन कौ,
पालक सचराचर भूतल कौ ।
तूही विष्णु औ नारायण तू,
कारन तू परब्रह्म जगत कौ ।

१५ : ७ में भगवान ने कहा है, कि मेरा सनातन अंश जीवात्मा बनकर जीवलोक में प्रवेश करता है ।

संसार में उत्पन्न भूतों के चार प्रकार हैं : १—मानव २—पशुपक्षी ३—वनस्पति ४—खनिज पदार्थ । पहले तीन प्रकारों में चेतना दृष्टि-

गोचर है। चौथे में भी वैज्ञानिकों ने अब प्रमाणित कर दिया है कि चेतना अत्यन्त सुप्त प्रकार की विद्यमान है। पौराणिक चौरासी लक्ष योनियाँ इन ही चार प्रकारों में बटी हुई हैं।

१३ : २१ में कहा है कि गुणों के संग से जीव का इन सदसत योनियों में जन्म होता है। मानव योनि में जीव के जैसे कर्म वैसी ही प्रारब्ध फल-स्वरूप एक के पश्चात् दूसरी योनि उसको न्यायाधीश के न्याय के अनुसार मिलती जाएगी, जब तक भोग द्वारा प्रारब्ध भोगों का क्षय पूर्णतया न हो जायगा। मनुष्य योनि के अतिरिक्त सब भोग योनियाँ हैं। केवल मनुष्य को ही विवेक बुद्धि प्रदान करके भगवान ने स्वतन्त्रता दी है, कि वह अपने पतन अथवा उत्थान के निमित्त कर्म द्वारा अपने को नरक की यातनाएँ अथवा स्वर्ग के भोगों का अधिकारी बनावे।

संचित कर्मों के प्रारब्ध रूप धारण करने पर जीव को भोग भोगने के लिए, कर्म फल के अटल सिद्धान्तानुसार, कर्त्ता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों के आश्रय से उचित योनि तथा योनियाँ, स्वमेव मिलती हैं। प्रारब्ध भोगों का क्षय होने पर, स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करने को भाग्यानुसार, फिर मानव तन प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य योनि और एक कम चौरासी लाख अपर योनियों में जीव भ्रमण करता रहता है।

इस युग के संसार में मानुष योनि की वृद्धि हो रही है। ऊपर उल्लिखित सिद्धान्त के अनुसार यही समझना चाहिए कि जीवात्माओं (पशु, पक्षी, वनस्पति और खनिज पदार्थ की योनियों में पड़ी हुई) के प्रारब्ध भोगों का क्षय हो रहा है, और मानव शरीर उनको कदाचित् और युगों से अधिक संख्या में मिल रहा है। जिस काल में महामारी, भूकम्प, युद्ध, अनावृष्टि से अकाल इत्यादि आपदाओं से मनुष्यों में क्षति अधिक होती है तो कर्म फल सिद्धान्त के अनुसार भोगों का अन्त सामूहिक रूप से अधिक समझा जावे।

संक्षेप में कर्म की गति इतनी गहन है, कि इसमें मनुष्य अटकलें भले ही लगा ले, इसको पूर्णतया त्रिकालदर्शी भगवान के अतिरिक्त और कौन जान सकता है (७।२६)। किस जीव का किस योनि में उत्पत्तिका कारण बनकर कौन सा न्याय किस समय कार्यान्वित होगा—यह कौन कह या

या सोच सकता है, जब ८४ लाख कही जाने वाली अनन्त योनियाँ हैं, अनन्त जीव आत्मायें हैं अनन्त काल हैं—अनन्त माया है ।

ऐसे संशयों और प्रश्नों की उलझनों में जब बुद्धि अशान्ति ग्रसित होती है, तब परमेश्वर की अपार शक्ति और माया का चिन्तन ही अम-निवारक बनकर शान्ति प्रद होता है । आशा है तुम्हें इस विवरण से कुछ तो शान्ति मिलेगी ।

भूपाली

जाऊँ तोरे चरन कमल पर वार ॥
रे गोपाल गोविन्द मुरार, शरणागत हूँ द्वार तिहार ॥
अनगिन दुरित भयौ हू जड़ मत,
किस विधि पाऊँ चतुर तुमारे पद
तुम ही जग के एक आधार ॥

(पृष्ठ ५७) का शेष)

साधो एक दिन जाना होगा ॥
साथ नहीं कोई जाता है, दो दिन का रिश्ता नाता है
.....पिजरे से उड़ जाना होगा ।

(पृष्ठ १८ का शेष)

जैसे राखहु वैसे ही रहों ॥
जानत दुःख सुख सब जन के तुम, मुख ते कहा कहों ॥
कबहुक भोजन लहौ कृपा निधि, कबहु भूख सहों ।
कबहुक चढ़ौ तुरंग महागज, कबहुक भार बहों ।
कमल नयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयो रहों ।
सूरदास प्रभु भक्त-कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहों ॥

(१३)

गीता में युद्ध की ध्वनि अवश्य है, परन्तु हिंसा विरहित—संयोग वियोग ।

तर्क—‘एक तरफ तो भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि आत्मा अव्यय है, दूसरी तरफ कहते हैं कि तुम अपने शत्रुओं के शरीर का युद्ध में नाश करो । यह क्या बात हुई ।’

अर्जुन के द्वारा मनुष्य मात्र के लिए भगवान् का उपदेश तो यह है, कि सृष्टि संचालन के भगवत् कार्य में प्रत्येक व्यक्ति को, भारी यंत्र में एक कण के समान, अपने पूर्व संस्कारों द्वारा निर्मित स्वधर्मानुसार, निष्काम भाव से कुशलता पूर्वक योग देना चाहिए । ऐसे कार्यों द्वारा उसका अन्तःकरण शनैः शनैः द्वन्द्व रूपी सब विकारों से शुद्ध होता रहेगा । इसके निर्मल होने पर आत्मबोध की प्राप्ति जिससे अपूर्व शक्ति का विकास और अन्त में ज्ञान युक्त भक्ति द्वारा मोक्ष द्वार का खुल जाना १८ : ४५—४६ ।

महाभारत के युद्ध में पांडवों का पक्ष निर्विवाद रूप से धर्म युक्त था । अर्जुन क्षत्री था—महारथी था । पूर्व संस्कारों से और इस जन्म के वातावरण से प्राप्त अधिकार द्वारा उसका धर्म वर्तमान परिस्थितियों में युद्ध में जुट जाने का था न कि अपने कुटुम्बियों के मोह में फँस मुँह मोड़ कर बैठ जाने का ।

मोह उत्पन्न होता है शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के वास्तविक ज्ञान के अभाव में । इस अज्ञान को दूर करने के निमित्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन जैसी निपुणता से एक अकथनीय अप्रमेय वस्तु का हो सकता है, वैसे भगवान् ने गीता में किया है । २ : १६ में सत् वस्तु की व्याख्या में कहा कि उसका कभी अभाव नहीं होता, ८ : २० में जो “सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति” । शरीर नाशवान् है—इसका नाश हो जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता ।

प्राणी के पिंजरे में दो ही तत्व दिखते हैं, आत्मा और शरीर, शरीर नाशवान, आत्मा अमर। अमर को कौन मार सकता है। इसके श्रेय का मूल्य तुच्छ नाशवान शरीर की अपेक्षा मोक्ष प्राप्ति ध्येय की दृष्टि से कितना अधिक है। भगवान ने गीता में यह ज्ञान अर्जुन को पूर्णतया सम-भाया है।

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म द्वारा कब और कैसे हुआ—यह अज्ञेय है। आत्मा की स्वतन्त्र अवस्था वाली अनन्त शक्ति तथा नित्यानन्द में हानि शरीर की ग्रन्थि से होती है। निर्विकार अवस्था में अपने को पुनः स्थापित करने हेतु जीवात्मा को उपयुक्त साधन द्वारा इन्द्रियों और शरीर पर अधिकार प्राप्त करना होता है, अतः मनुष्य का शरीर सेवक है और आत्मा स्वामी।

शरीर के नष्ट हो जाने से आत्मा की मोक्ष यात्रा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ता। प्रारब्ध भोगों का अन्त होने पर शरीर के बने रहने का कारण मिट जाने से उसका अन्त होना चाहिए। भगवान ने ११।३२-३३ में कहा है कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार सामूहिक प्रकार से यही गति युद्ध में मारे जाने वाले सैनिकों की होती है। उन्होंने अपने को ११ : ३२ के पूर्वार्ध में काल बताया है। धर्म के नष्ट होने पर उसकी पुनर्स्थापना हेतु वे काल रूप धारण करके युद्ध का निर्माण करते हैं, वे ही ऐतिहासिक गतियों के निर्माता हैं—मनुष्य तो निमित्त मात्र है—“निमित्त मात्रं भवसव्यसाचिन” (११ : ३३)।

युद्ध में हिंसा नाम से विचलित व्यक्ति कटाक्ष करते हैं, कि गीता तो अर्जुन से बार-बार यह कह कर कि युद्ध कर हिंसा ही सिखाती है। युद्ध शब्द में हिंसा का अभिप्राय न रह कर केवल यही तत्त्व है कि जिस व्यक्ति का पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में जो स्वधर्म है, वही उसको सदा करना चाहिए। पापी को मृत्युदण्ड देने पर क्या न्यायाधीश या वधिक को हिंसक कहेंगे; पापी के पाप कर्म ही उसको सूली पर चढ़ाने के हेतु हैं, दूसरे तो केवल निमित्त मात्र होते हैं।

कौरवों के सिर पर पाप की गठरी लद चुकी थी—भगवान ने न्यायानुसार उनके शारीरिक अस्तित्व का अन्त होना चाहिए था—क्षत्री

के नाते अर्जुन का धर्म भगवान की अध्यक्षता में निमित्त मात्र बनना था। उस धर्म का मोह वश त्याग कामना के वश होना होता। कामना उत्पन्न होती है पूर्ण ज्ञान के अभाव में-ज्ञान इस बात का कि आत्मा और शरीर जो प्रत्येक देहधारी में दो तत्व हैं, उनमें परस्पर का क्या वास्तविक सम्बन्ध है; इन दोनों में कौन हीरा है और-कौन कंकर। शरीर का कैसे उपयोग किया जावे जिससे अन्त में मोक्ष-प्राप्ति हो सके।

शरीर रूपी सेवक की उपयोगिता में घोर बाधक कामना है, यही आत्मा और शरीर की ग्रन्थि का मूल है।

अपना कर्तव्य कर्म ही समझकर जब अर्जुन निष्काम भाव से युद्ध में प्रवेश करेगा तभी वह परम कल्याण का अधिकारी बनेगा।

गीतोपदेश सुनकर अर्जुन का मोह नष्ट होने से धरती पर फेंके गांडीव को पुनः धारण कर वह निर्द्वन्द्व हो युद्ध के लिए तैयार हो गया।

भौतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों का सूक्ष्म निरीक्षण करके द्रष्टाओं ने यह नियम पाया है, कि उनके प्रत्येक भाग की मन्द गति शनैः शनैः उन्नति द्वारा पूर्णता की ओर सदा बनी रहती है। देहान्तर प्राप्ति से भी प्रत्येक जीवात्मा कल्याण की ओर अग्रसर रहती है। अतन्त योनियाँ धारण करके अपने प्रारब्ध भोगों को भोगता, सिर पर लदे बोझ को उतारता, जीव मानुष तन पाता है, कि फिर विवेक बुद्धि द्वारा कर्म करने की अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करके कल्याण मार्ग में गति प्राप्त करें। यह भगवान को दया का प्रसार है, परन्तु अपनी हीनता से विषयों के प्रलोभन में मनुष्य इसको भूले रहता है। जो इससे बचे रहते हैं वे धन्य हैं वे अपना मार्ग बनवाते रहते हैं।

६—३३ के उत्तरार्ध में अर्जुन द्वारा मनुष्य मात्र को भगवान उपदेश देते हैं, कि ज्ञान युक्त धर्माचरण पूर्वक मानुष तन धारी को समत्व और सेवा के कल्याण मार्ग में जीवन व्यतीत करना चाहिए।

संयोग-वियोग

प्रिय जीवन संगिनी के निकटवर्ती वियोग से वृद्ध हृदय का दुःखी रहना स्वाभाविक है। सन्तानाभाव में सारा स्नेह उन्हीं के चारों ओर लगा रहना साधारण बात रही, फिर बढ़ती हुई आयु में पति की देख रेख

भी उन ही के आश्रित थी, अभाव इस कारण से और भी खलना स्वाभाविक है; परन्तु समय ऐसा बलवान है कि वह मनुष्य को परिवर्तित दशा में येनकेन प्रकारेण स्वयं बैठा देता है ।

नींद न आने के कष्ट का इतना बढ़ जाना कि बिना गोली के काम न चले—यह तो ढलती आयु में स्वास्थ्य और मन की शांति दोनों के लिए बड़ा हानिकारक है । ऐसी औषधियों का हृदय पर बुरा परिणाम पड़ता है । प्राकृतिक नियमों का पालन और भगवान की शरणागत—इन उपायों से ही मनुष्य को स्थाई लाभ होता है ।

यह सत्य है कि ऐसे समय में मनुष्य का धैर्य बना रहना कठिन होता है, परन्तु फिर यह विचार कर कि अपना वश ही क्या है, धैर्य समय से मिल जाता है । विवेक तत्काल सहायक नहीं हो पाता परन्तु भगवान तो सदा सबके सहायक बने ही रहते हैं, अर्थात् अशांत मन को शांत करने में लगे ही रहते हैं, बस मन प्रार्थी बना रहे । जितना घोर संकट उतनी ही हृदय तल से प्रार्थना, और उतनी ही भगवान की सहायता । ऐसी धारणा पूर्वक मनुष्य दत्तचित्त होकर प्रार्थना में लगा रहे तो उसको शांति मार्ग जिसका खोज में वह संकट के समय छटपटाने लगता है, अवश्य मिलेगा । यही मार्ग तो मोक्ष का है । बहुत दूर का होने से चाहे उसका पूर्ण महत्त्व आरम्भ में ढका रहे । शांति पा ली तो अभय होकर मनुष्य मार्ग पर चल निकला ।

जिसने अपनी दृढ़ता, साहस और पुरुषार्थ द्वारा भौतिक क्षेत्र में साधारण से उच्च पदवी पाली हो उसको इन ही गुणों का अब आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना आगे का मार्ग बनाने में उपयोग करना चाहिये । ज्ञय, तप और दान उसकी व्याधि और मन के वियोग जनित बलेश को हर लेंगे ।

जो घटना भाग्यवश घटनी थी, वह घट चुकी, उसके चिन्तन में दुःख ही दुःख होता है । इससे छुटकारा पाने का एकाकी मार्ग परमेश्वर के चरणों में समर्पण है, इस आन्तरिक विचार को बढ़ाते हुए कि “जिस विधि राखे राम ।”

वियोग होने पर मन को बलेश स्वार्थवश होता है । संयोग से जो शारीरिक सहायता और मानसिक तृप्ति मिलती रही, उसका वियोग द्वारा

अभाव हो जाने से स्वाथ पर भारी ठेस पहुँचती है, जिस कारण मन दुखी रहता है, परन्तु ज्ञान चक्षु द्वारा जब मनुष्य यह देखने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, कि वियोगी की आत्मा का श्रेय उसी विधान को पूर्ति में घटा हुआ था, जो उसके पूर्व तथा इस जन्म के कर्म जनित फलों पर आश्रित था, तब अपने प्रिय की आत्मा के हितार्थ, जो त्याग रूप से अपने स्वाथ का विचार उसकी (वियोगी की) आत्मा के परमार्थ में वह (मनुष्य) लय करता है, वही त्याग उसके लिए परम शान्तिदायक बन जाता है ।

भगवत शरणागत तथा वियोगी की आत्मा के श्रेय की ओर के ध्यान द्वारा, जब चित्त की विकलता इस प्रकार शनैः शनैः दूर होने लगती है, तब उन शुभ कर्मों की ओर ध्यान जाता है, जो सम्बन्धित होते हैं जीवन काल में अनुभव की हुई वियोगी की श्रेष्ठताओं की पावन सुख-दायिनी स्मृति से । इस प्रकार वियोग आत्मिक संयोग बन कर इन सब कर्मों को करने की प्रेरणा देता है, और अन्त में हृदय के शेष संताप को आनन्दमयी स्मृति में बदल देता है । सम्राट शाहजहाँ का ताजमहल हृदय की इस पावन गति का एक विशाल नमूना है । प्रत्येक देश के प्रत्येक नगर में ऐसे स्मारक भिन्न-भिन्न आकृति के लघु से महान तक बनते रहते हैं, और मानव हृदय के संयोग-वियोग, वियोग-संयोग की लहरों को चित्रांकित करते रहते हैं ।

पतिव्रता पत्नी के वियोग के क्लेश से दुःखी होकर जब एक विचार शील पुरुष ने ज्ञान की यह रेखा पकड़ी, कि अब तक मैं जो जीवन अधिकतर स्वार्थ में बिता रहा था, उसको पत्नी प्रतिमा रूपी संज्ञान के हितार्थ अब तन मन से लगाऊँगा, उसको शान्ति के चिन्ह तुरन्त दिखने लगे । इस संकल्प द्वारा जो आचरण उसका होने लगा, उसने आत्मोन्नति के मार्ग में इतनी गति उसको दर्शायी, कि वह अपने को कहाँ से कहाँ पहुँचा पाकर धन्य मानने लगा, और उसका सारा बलेश परमानन्द का अंश बन गया ।

सिर पर पड़े दुःखों की दुःख रूपता को हल्काने, यहाँ तक कि मिटाने में, त्याग और सेवा की बड़ी महिमा रहती है । यह ही मर्म संयोग-वियोग की घटनाओं में अस्पष्ट रूप से रमा रहता है । जिन महापुरुषों ने अपने आचरण द्वारा उसको स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लिया वे ही उसकी सार्थकता की दुहाई देने में समर्थ होते हैं । (पद्यांश पृष्ठ ५२ पर)

सुख की सुखरूपता ही जाती रही ।

“सुख मानने की वृत्ति को लगभग खो बैठे हैं। साथ लगे हुए दुःखों के अनुभव के कारण सुख का बोध ही नहीं होने पाता।” यह वाक्य मनुष्य मात्र के मन का प्रारम्भिक स्थिति में अनुभवों के अनुसार सत्य है। समस्त राजसिक सुखों का अन्तिम परिणाम ऐसा ही होता है; यह प्राकृतिक नियम है। परन्तु इससे यह समझ लेना कि वृत्ति ही खो बैठे हैं, वास्तविकता से परे है। आत्मा के आनन्दमय रूप का साक्षात्कार करके, उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए महात्माओं ने, घोषणा की है कि मनुष्य निराशा से मुख मोड़े, और श्रद्धा पूर्वक परमेश्वर की शरणागत होकर शास्त्रोक्त मार्ग का अवलम्बन करे, तथा मन और बुद्धि में जमे विकारों को शनैः शनैः धोता रहे, तो समय पाकर आत्मा में स्थित नित्यानन्द की झलक उसको एक न एक दिन अवश्य दिखेगी। यदि पूर्व संस्कार वश श्रद्धा नहीं जागृत होती है, तब भी प्रारम्भ में उसको अपने विवेक द्वारा झूठे ही अपनावे। इस विधि से उसको उस ईश्वरीय नियम का चमत्कार, कि ‘झूठा नाचे सच्चा होय,’ स्वयं दृष्टि गोचर होगा, इसमें सन्देह नहीं। मन बड़ा चंचल है, इसपर अधिकार पाना दुस्तर है। परन्तु साहस, धैर्य, और विधि पूर्वक इसको वश करने में जो जितना सफल होगा, उतना ही यह दास बनकर उन्नति के मार्ग में सहायक होगा। इस वशीकरण कार्य को परम धर्म समझकर, प्रातःकाल सूर्योदय और सायंकाल सूर्यास्त के शांति गर्भित क्षणों में नियम पूर्वक एकान्त सेवन करने से ईश्वर स्मरण की भावना उत्पन्न होती है। भावना से जब चिन्तन की ओर झुकाव होने लगता है तो मन की चंचलता की गति में भगवत्कृपा से स्वयं न्यूनता आने लगती है, और यहाँ ही से उस नित्यानन्द की प्रारम्भिक अवस्था का चिन्ह दिखने लगता है, जिसकी खोज में व्यक्ति का अन्तःकरण छटपटाता रहा है।

कर्तव्य को कर्तव्य ही समझ कर करना श्रेयकर है, किन्तु उसमें व्यवस्थित विघ्नों के संघर्ष से उत्पन्न असन्तोष को हरने के लिए कोई

अवलम्बन चाहिए । दृढ़ मन का अवलम्बन ही श्रेष्ठ है । ऐसी दृढ़ता पर-
मेश्वर कृपा के आश्रित है । इसके लिए एक मात्र ईश प्रार्थना ही निर्बल
जीव का सहायक दण्ड है ।

काम में व्यस्त रहने से अवकाश नहीं मिलता, यह असत्य नहीं ।
परन्तु मन में स्थान होने पर कार्य कमाने के सदृश्य होने लगता है, कि
कि बल पूर्वक जितना हो सके उसे खेंच ले जाओ, किन्तु इसके हटते ही
वह तुरन्त निजी बल द्वारा अपने स्थान पर आ जाती है । ईश प्रार्थना जीव
को इस प्रकार के आत्मबल से युक्त कर देती है ।

मेरो मन सकल सुखों पर धावे, कोई सुख हाथ न आवे ॥

सेमर की सेवा कर जैसे, सुआ बैठ पछतावे ॥

साँचो सुख दुःख के भीतर है, कौन इसे समझावे ॥

कीर्तन में ढोंग ?

‘एक पण्डित रामायण की कथा भली भाँति कहते हैं, कीर्तन होता
है, उसमें सिर हिलते हैं—पर मुझे तो यह सब ढोंग ही लगता है ।’—
अधिकांश तो ढोंग ही होता है, परन्तु सत्य वस्तु पाने का मार्ग जब ध्यान,
मनन, कीर्तन, भक्ति और निष्काम कर्म इन सबका अभ्यास ही है, तो
मनुष्य इनका तिरस्कार भी तो नहीं कर सकता । ऐसा करने से जो उसके
हाथ कुछ नहीं आता । कोई वस्तु बिना उद्योग व परिश्रम के प्राप्त
नहीं होती । जब उद्योग के लिए मन में घृणा किसी कारण से भी बैठी हुई
है, तो मनुष्य अपने को मार्ग से विमुख ही समझे । अहंकार ऐसा विकार है,
कि जिसके त्याग की ओर विचारवान मनुष्य को सदा ध्यान देना चाहिए ।
जब आस्तिकों का अहंकार मानकर, व उनकी ढोंग चर्या का विचार करके,
उनके मार्ग में कोई तत्त्व ही नहीं दीखे, तो मनुष्य को समझना चाहिए—
व आत्म निरीक्षण द्वारा वह पहचानेगा भी—कि उसकी दृष्टि से अभ्यास
तत्त्व के ओझल हो जाने का कारण भी वही अहंकार है, आस्तिकों में जिसकी
गंध से वह अपने को व्यथित पाता है, अर्थात् संसार में नैतिकता के नियम
पालन मात्र के अहंकार की एक छोटी सी डोंगी से भवसागर पार उतरने
के अनुचित विचार को ही, बड़े-बड़े ज्ञानी व अनुभवी ऋषि मुनियों के
उपदेशों की अवहेलना में, पकड़े रहना । आँधी में वे ही वृक्ष जमे रहते हैं,
जिनकी जड़ें धरती में गहरी व बलिष्ठ समाई होती हैं । अपनी दोष युक्त

बुद्धि से ग्रहण किए नैतिकता के नियमों का ही आश्रय ऐसी आँधी के सामने कोई आधार में आधार है। काम, क्रोध, मोह, लोभ की पर्वती लहरों के झुझोड़े व थपेड़ों को सहकर मनुष्य कैसे अपना संतुलन थामे रह सकता है, जब तक उसके विचारों की व अभ्यास की पैठ समुद्र में बड़े जलयान के समान मन में बहुत गहरी न गई हो। इन शब्दों में व वाणी द्वारा कहे उत्तर में हेर-फेर तो हुआ होगा ही किन्तु आशय यही था। उन्नति मार्ग में पड़ा मनुष्य झूठा नाचते-नाचते समय से सच्चा नर्तक बन जाता है; भाव में सदा प्रदर्शन ही न रहना चाहिए आरम्भ से ही आत्म विकास के लगन की रेखा का अंश भी होना चाहिए। सोना तपाये से निखरता है, खान में तो वह अशुद्ध ही मिलता है। आस्तिकों के जप, यज्ञ, नियम, पूजन भक्ति भी विकारों से सने रहते हैं, किन्तु इनसे विचलित होकर सोने जैसी मूल्यवान वस्तु का ध्यान तो नहीं खो देना चाहिए।

शंका समाधान

“पाश्चात्य देशों में वृद्धावस्था का एकाकी जीवन श्राप है। धर्मयुक्त मार्ग, जिसमें सहनशीलता, उदारता, क्षमाभाव इत्यादि श्रेष्ठगुणों की प्रधानता रहती है, जीवन में सदा तुष्टि-पुष्टि शांति प्रदान करके साथ वृद्धावस्था में इस श्राप से रक्षा करता है, अधर्म ही इस श्राप का कारण होता है।

शंका—“दुःख, सुख, पाप पुण्य तो सब ईश्वर के बनाए हैं, अथवा उसी के द्वारा प्रेरित माया के प्रदर्शन हैं तो फिर ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता हुई?”

समाधान—यह सत्य है कि दुःख, सुख, जो पाप पुण्य के परिणाम हैं, ईश्वर के नियमानुसार ही जीव को मिलते हैं; मनुष्य योनि विवेक बुद्धि के नाते कर्म योनि है, दूसरी सब केवल भोग योनियाँ हैं, अर्थात् प्रारब्ध कर्म के अच्छे बुरे भोग भोगने मात्र के लिए ही है। इस विवेक बुद्धि द्वारा, कर्त्ता ने मनुष्य को स्वतन्त्रता प्रदान की है, कि वह पुण्य कर्म करे चाहे पाप, माया के परे उठे अथवा उसमें फँसकर नीचे गिरे। माया ईश्वर निर्मित अवश्य है, परन्तु जीव का अपना विवेक भी तो साथ है, जो इसको ईश्वर से नाता जोड़ने में लगाता है वह पुण्य कर्म करता है, और जो विषयों में फँसता है वह पाप कमाता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों को जीव पूर्व संस्कार वश ही करता है, परन्तु ये संस्कार भी तो उसके स्वयं ही कमाए हुए हैं। यह

सत्य है कि पापी में पाप संस्कार होते हैं, और उन्हीं के वश वह दुष्कर्म करता है, परन्तु उसमें परमेश्वर की चेतावनी भी अवश्य होती है, चाहे वह कितनी भी हल्की क्यों न हो। यदि उसको अपने विवेक द्वारा मानकर वह भविष्य को सुधारने में लगेगा, तो नीचे से ऊपर अवश्य उठेगा। मनुष्य दो प्रकार से पाप करता है, एक लोभ अथवा अज्ञानतावश धर्म को छोड़कर परधर्म में लगने से, दूसरा प्राकृतिक आवश्यकताओं को लाँघ कर कामनाजनित विषयों में फँसे रहने से। स्वार्थ और भोगवासनाओं को आत्मसंयम द्वारा वश में करके कर्तव्य परायण होने से मनुष्य में अपार शक्ति का संचार हो जाता है। यह मार्ग श्रेष्ठ पुरुषों का है। इसी में परमानन्द का अनुभव होता है, यही मोक्ष का द्वार है।

संसार में जब दुर्जनों द्वारा अधम फैल कर धर्म का लोप हो जाता है, तब धर्मात्माओं का उद्धार करने और दुर्जनों को धर्म मार्ग पर लाने के लिए—आवश्यक हो तो उनका नाश तक करने को भगवान् मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं। अवतार धारण करने का कब उपयुक्त समय आता है, यह मनुष्य गणना से परे है; इसको तो त्रिकालदर्शी ही जान सकता है, मनुष्य की दृष्टि ही कितनी और उसकी क्या सामर्थ्य। परमेश्वर सर्व शक्तिमान होने के नाते, बिना अवतार लिए भी साधुओं का उद्धार और पापियों का नाश कर सकता है, परन्तु मनुष्य रूप धारण करके अपने कर्मों द्वारा भक्तों को आदर्श दर्शने व स्थापित करने का कार्य भी, अन्यान्य निमित्तों के साथ भगवान् के संकल्प में होता है, ऐसा भक्तिमान मनुष्य का विश्वास रहता है और भगवान् ने स्वयं भी यही कहा है।

मनुष्य शुभ कर्म करके जब फल को तन मन अर्थात् अपने सर्वस्व द्वारा भगवान् के चरणों में अर्पण करता है, तब उसका अन्तःकरण कर्तृत्व अभिमान के त्याग द्वारा राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होने लगता है जिससे वह ईश्वर के समीप पहुँचता जाता है। उसके पुण्य कर्मों का भोक्ता जन जनार्दन रूप में भगवान् रहते हैं, और वह स्वयं पुण्य कर्म की स्वर्ण शृंखला के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष मार्ग में अग्रसर होता रहता है। पापी अपनी दुष्कृतियों के उत्तरदायित्व को भगवान् पर कैसे आरोपित कर सकता है। वह तो अपने बन्धनों को दिन-दिन सुदृढ़ करके अधोगति की ओर ही बढ़ता रहता है।

पापी जहाँ अपने पापों का केवल आप ही उत्तरदायी है, वहाँ सर्व-फल परमेश्वर के चरणों में अर्पण करके अहमता और ममता विकारों से रहित पुण्यात्मा रूपी अपनी सृष्टियों के स्वर्ण रूपी बन्धन से अपने को मुक्त करता है, जिससे वह मोक्ष का अधिकारी बनता है। पापी को जब जन्म-जन्मान्तर में घोर दुःख प्राप्त होते हैं, तब व्याकुलता से उसकी आँखें खुलती हैं, और यहीं से उसका मुख उद्धार की ओर होता है। भगवान के नियमानुसार किसी का जीवन सदा नरक में ही पड़े रहने को नहीं होता। उनकी अपार दया में जीव मात्र के लिए मुक्ति का स्थान रहता है, किसी का आगे किसी का पीछे। 'कवि ने कहा है—'अति दूरस्थ' एक ही ईश्वरीय विधान जिसकी ओर सारी सृष्टि सरकती रहती है।'

भगवान के सृष्टि रचना कार्य को कौतुकी के खेल सदृश समझा जावे। एक ओर त्रिगुणात्मक माया रच दी तो दूसरी ओर मनुष्य को बुद्धि एवं विवेक प्रदान करके शुभाशुभ कर्म करने की स्वतन्त्रता दे दी। जैसे आधिभौतिक क्षेत्र में बुद्धि द्वारा उसकी उड़ान चन्द्रमा तक होने लगी है, इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत के ऋषियों द्वारा परमेश्वर के समीप पहुँचने का अनुभव हो चुका है। मनुष्य योनि के अतिरिक्त और किसी योनि में यह शक्ति नहीं।

मनुष्य माया में फँसकर चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाता है। इस प्रकार सृष्टि रूप में कौतुकी का खेल अनादि काल से चलता रहा है। यदि मनुष्य को स्वतन्त्रता न दी होती, और उसके लिए माया का आकर्षण न रक्खा होता, तो उससे पाप कर्म बनता ही कैसे, और फिर फल रूप में चौरासी लाख योनियाँ कहाँ रहतीं, कौतुकी का खेल कैसे चलता।



आदि अन्त है तूही ॥

आदि, अन्त, गुप्त, प्रगट, सकल करणहार तूही।

जग करतार तूही जीव जन्तु है तूही ॥

आदि और अनादि तूही, पूर्ण शुद्ध ब्रह्म तूही।

दीजिए वरदान पूर्ण, नारी कन्त है तूही ॥

(१५)

गृह-स्वामी का अपनी संतान तथा आश्रितों के प्रति शास्त्रोक्त व्यवहार

शिशु के प्रति माता पिता का—छोटे बालकों में आपस का

ईश्वर की ओर निहार कर, जो महेश्वर होने के नाते सबका पालन पोषण करता है, तथा सांसारिक व आध्यात्मिक उन्नति में प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार प्रवृत्ति देता है—शास्त्रकारों ने स्वामी का स्वामित्व एवं प्रभुताई अपने आश्रितों की प्रत्येक प्रकार की सुधि लेने में ही मानी है। ईश्वर भाव से युक्त मनुष्य का श्रेष्ठतम गुण सर्वभूतहितेतर तत्व है।

दण्डनीय व्यक्तियों के लिए दण्ड की योजना अपने न्याय युक्त अटल नियमों द्वारा प्रभु ने की है, परन्तु इसमें भी करुणा सागर के अपार प्रेम और शुभ चिन्तन का मिश्रण ही है, अर्थात् दुःख रूपी दण्ड द्वारा व्यक्ति की आँखें खोलना और उसका मुख अशुभ की ओर से शुभ की ओर मोड़ देना।

भगवान के इस गुण का पूर्णतया आश्रय लेकर, स्वामी आचार्य रूप में जब अपना कर्त्तव्य पालन करता है तभी आश्रितों का कल्याण होता है।

आचार्य शिष्य को अपने आचरण द्वारा प्रभावित करके दोषों को धोने में अपनी कुशलता समझता है। क्रोध की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी वह विकार रहित क्रोध का ही उपयोग करता है; किन्तु यह भी हारे की दशा में आवेश में या स्वभाव वश नहीं।

अधिकारी का अपने आश्रितों से पूरा काम लेने का उत्तरदायित्व है। इनकी श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अधिकांश तो अहित हो जाने के भय

से बचने के लिए ही काम करते हैं, अधिकारी का क्रोध भय को उनके हृदय में प्रत्येक क्षण हरा बनाये रहता है। इस युक्ति में बल होने पर भी उसका क्रोध पर अधिकार होना चाहिए। अनुचित बात को दुहराते रहने से स्वभाव बिगड़ता है; इस हानिकारक परिणाम को आँखों के सामने रखकर विकार रहित अथवा कम से कम क्रोध से काम लेना चाहिए।

बालक, शिष्य, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक भावना से ही सब कुछ सीखता है। भय द्वारा लादा उपदेश सार्थक नहीं होता, अस्थायी फल दिखाकर विलीन ही नहीं हो जाता प्रतिक्रिया रूप में उस व्यक्ति के चित्त पर अशुभ संस्कार भी न केवल स्व के प्रति उत्पन्न कर देता है, किन्तु उपदेशक के प्रति भी। लाभ की अपेक्षा सब ओर हानि ही हानि।

बालक तथा आश्रित के प्राकृतिक स्वभाव को समझकर उसके सुधार के निमित्त जो कुछ मार्ग निश्चित करे, उसमें स्वामी अवश्य यह देखे कि जाने अनजाने कोई उसका निजी दोष तो उसमें मिश्रित नहीं हो रहा है। यदि है तो उसकी छाप आश्रित के मन पर सबसे पहले पड़ेगी, और उपदेश से लाभ उठाने का विचार दूर पड़ा रहेगा, जिससे स्वामी को निराशा ही होगी। दोष उसमें चाहे वह आश्रित का ही अज्ञानवश मानता रहे, परन्तु जिस कार्य को हाथ में लिया जब उसे विधि पूर्वक नहीं किया, तो वांछित फल कहाँ से हो।

आश्रित के अज्ञान को स्वामी अपने अज्ञान से मिटा सकने में क्या कभी सफल हो सकता है। अज्ञान मिटता है ज्ञान के दीपक से। इस को हाथ में लेकर अंधेरे में चले जाओ अन्धकार स्वयं मिट जावेगा।

अपने व दूसरे के व परस्पर सम्बन्धित किस दोष या किन दोषों से निबटना है, इस पर शान्ति से विचार किया जावे, इसकी विधि सोचकर निकाली जावे, और विकार रहित मन से उसका प्रयोग किया जावे। वांछित फल न मिलने पर आत्म निरीक्षण, और फिर संशोधित बुद्धि एवं मन द्वारा परमेश्वरार्पण बुद्धि सहित शुद्ध विधि प्रवेश। सफलता प्राप्त करने का यह मार्ग है।

जिसके पास आत्म निरीक्षण, क्षमा आदि दैवी गुणों के अतुल्य प्रभाव में अटूट श्रद्धा रूपी धनराशि है, वह समय पाकर अपने आश्रितों तथा अपने दोषों को दूर करने में सफल होगा, इसमें संशय नहीं।

मनुष्य में निभयता, सत्य के समान, अपार शक्ति का विकास करती करती है। जो स्वामी अभयदान के पुण्य कर्म द्वारा इसमें आश्रितों का सहायक बनता है, वह उनके कल्याण रूपी यज्ञ में अपनी आहुति ही देता है। भयभीत हृदय में—विशेष कर बालक के—सद्गुणों का प्रादुर्भाव रुक जाता है, न कोई कर्म ही स्वतन्त्रता एवं कुशलता पूर्वक उससे बन पाता है, और न उसके विचारों में स्वावलम्बन की मात्रा ही बढ़ने पाती है।

बालक का हृदय अबोध होने से अपनी निर्मलता के बल से, व्यवहार में शुद्धि अशुद्धि को जल्दी पकड़ता है, और उनका तत्परता से अनुसरण करता है, अतः उसके सामने विशेष सतर्कता पूर्वक व्यवहार करने का स्वभाव होना चाहिए। माता-पिता के मध्य का वातावरण उसके प्रारम्भिक जीवन में शुभाशुभ संस्कारों की नींव भली भाँति जमाता है। 'जैसे जहाँ के नदी नाले वैसे वहाँ के रोड़े'।

दोष को मोहवश पहचानने में भूल करना या पहचान कर अपने कर्त्तव्य कर्म की अवहेलना में उससे आँख मींचना, इसको मनुष्य पाप के समान माने और उसके निवारण में प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी अनुचित शक्ति का प्रयोग करना भी मूढ़ता ही नहीं, पाप समझे। पवित्र प्रेम मिश्रित प्रयोगों में बड़ा बल होता है, ये ही दोषों की जड़ काटने में फली-भूत होते हैं, चाहे उनमें ऊपर से भ्रम द्वारा कटुता का दोष दीखे; हितैषी को इससे भयभीत न होना चाहिये। ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्त्तव्य करने वाले को यह भय नहीं होता। अतः मनुष्य को ईश्वर की शरण होकर योग्य कर्म करते रहना चाहिए।

इस प्रकार गृहस्वामी का भारी उत्तरदायित्व रहता है। अपनी पदवी के अहंकार जनित महत्व को त्याग कर जो स्वामी उपरोक्त शास्त्र विधि के अनुसार अपने सेवा धर्म को निवाहेगा वह अपने कल्याण के साथ अपने संसर्ग में आये व्यक्तियों की सब प्रकार की उन्नति का कारण जीवन पर्यन्त बनता रहेगा और अपने स्वामित्व अधिकार के पूर्ण उपयोगी के रूप में सर्वमान्य रहेगा। इस मान्यता का मूल्य उसकी अमानित्व दृष्टि में चाहे न हो, पर दूसरों में श्रेद्धावर्धक रूप में तो सदा दिखता ही रहेगा।

शिशु के प्रति व्यवहार

बच्चे दूध पीने में बहुत आनाकानी करते हैं। आनाकानी ही नहीं प्रायः बिगड़ भी जाते हैं। खेल में लगे रहने से दूध की ओर ध्यान ही नहीं जाता यद्यपि खेल में रहते हुए भी रुचिकर पदार्थों की लूटमार तक कर लेते हैं।

इस गतिविधि से दो ही बात समझनी चाहिए। या तो प्रत्येक दिन दो तीन बार दूध पिलाये जाने से उनको दूध से अरुचि हो गई हो, या फिर वे डाँट से दूध पिलाये जाने के कारण अपनी विरुद्धता दिखाने में हठ करते हों।

जिन बच्चों के शरीर एवं मन दोनों साधारण से अधिक बलवान और चैतन्य होते हैं, वे बहलाए से तो बश में सरलता से आ जाते हैं परन्तु— उनके साथ ऊपरी बल का प्रयोग काम नहीं करता, इसलिए अनुचित है बच्चों के साथ क्रोध करना मानो उनको यह दोष स्वयं सिखाना है, माता क्रोध दिखाते हुए उन पर एक बार हाथ उठावे तो पिता के भय से वे चाहे दब जावें, पर उसी क्रोध का प्रदर्शन व हाथ का प्रयोग वे स्नेहमयी माँ के सामने करना सीखते हैं।

भय से क्षणिक काम चल जाता है परन्तु उससे बच्चे सुलक्षण नहीं सीखते। जब तक उनके मन में उद्वेग बना रहेगा ध्यान उधर ही अटका रहेगा। मन को इसलिए उद्वेग से बचाकर प्यार व धैर्य के साथ अच्छी बातों में अभ्यास कराना चाहिए। इस विधि द्वारा उनमें धीरे-धीरे सुलक्षणों का विकास होता रहेगा।

बाहरी व्यक्ति को माता-पिता के गुणों अवगुणों की पहचान बच्चों के रंग-ढंग से हो जाती है।

जब कभी बच्चे में कोई अनुचित बात दीखे, तो कभी पक्षपात में उसकी ओर से आँख न मीचे यह सोचकर कि यह अपने बच्चे की है, या कर लिया तो क्या हुआ अभी बच्चा ही तो है। दूषित संस्कार इस पक्षपात में ही जमते हैं। ताड़ना की आवश्यकता समझी जावे तो उससे नहीं रुके; परन्तु छड़ी तक के प्रयोग की आवश्यकता होने पर भी मन से, आकृति

से, तनिक भी क्रोध न झलकना चाहिये, यही कहते रहना चाहिए कि इस बुरी आदत से तुम्हारा पीछा छड़ाने के लिए उस शैतान को मार भगा रहे हैं, जो तुम पर चढ़ आता है और तुमसे ऐसे गन्दे काम कराता है। स्व के हाव-भाव की शान्ति उसमें उद्वेग कभी नहीं उत्पन्न करेगी, किन्तु छड़ी के प्रयोग में तुम्हारी दृढ़ता और उसके साथ शांत भाव उसको अपनी हठ से दूर करने में सहायक होंगे। दूसरी बार वह शैतान के नाम पर अपने शरीर पर छड़ी पड़ने के अपमान व कष्ट सहन के अवसर को ले आने के पूर्व ही अपने आन्तरिक भय द्वारा हठ छोड़कर संभल जावेगा। बच्चे की इस मनोवृत्ति को अच्छी प्रकार से ध्यान में रखकर उसके साथ बरतना उचित होता है। कोई भी इसको बरत कर देख ले।

जो बच्चे की इच्छा को न पहचान व समझकर, अपनी इच्छा उस पर लादना चाहते हैं वे सदा असफल रहते हैं, क्योंकि जो सिखाने वाली शक्ति है वह तो उसके अन्दर है। जब उसी पर भय द्वारा बाहरी लदाई से परदा पड़ गया, तो उसका प्रभाव रोने धोने व हठ करने का ही पड़े बिना न रहेगा।

ऊपर लिखी बातों में माता-पिता के लिए कोई नई बात नहीं, परन्तु ध्यान जमाने के लिए ये शब्द लिखे गए हैं। बच्चे की पढ़ाई, लिखाई, रखाई, की धुन में उसके स्वाभिमान पर कभी धक्का न पहुँचाना चाहिए। जो माता-पिता इस गुर पर सदा ध्यान और मन पर संयम रख कर अपने बच्चों का सच्चे हित के साथ लालन-पालन करते हैं, उनके बच्चे साहसी और गुणवान होते हैं।

निरे भय का शासन गुणों का विकासक नहीं होता। डाट-डपट कर दूध बच्चे के पेट में भर भी दिया तो वह उसके अंगचंग न लगेगा। बहलाने पर यदि उसका मन हो आवे तो पिला देना ठीक है। परन्तु जब इस पर भी उसकी रुचि न हो तो पीछा करना छोड़ देना चाहिए। अलाय-बलाय खाने से उसे अवश्य रोकना चाहिए जिससे शरीर में रोग न घुसे परन्तु अनुपयोगी पदार्थों की लूटमार रोकने की चिन्ता में उसकी रुचि के विरुद्ध दूध पेट में भरना दोषयुक्त ही समझना चाहिए। माताओं के दूध पिलाने की हठीली विधि के विरुद्ध इस कथन का यही अभिप्राय है, कि नहीं पिये तो उस सीमा तक बच्चे को न घेरा जाय कि वह

रोने चिल्लाने लगे, यहाँ तक कि क्रोध में भड़क कर हाथ पैर और ठोकर चलाने लगे। यदि माता ने अपनी समझ के अनुसार उसको दूध पिला कर थोड़ा शरीर पालन भी कर दिया तो भी क्या लाभ हुआ जब उसका क्रोध भड़का कर हठ करने की वृत्ति को बढ़ा दिया; अन्तिम परिणाम तो अशुभ ही रहा। देखने सुनने वालों पर भी यह प्रभाव पड़े बिना न रहेगा, कि माता इस विषय में अपने उचित अनुचित विचार के आगे दूसरे की बात पर ध्यान ही नहीं देती। यह गृह संतुलन में अहितकारी है।

रात में बच्चे के बलपूर्वक काजल लगाने पर बच्चा कभी-कभी नींद में कैसा बिगड़ने लगता है। एक दिन यदि काजल न लगे तो उससे जो हानि होगी, उससे कहीं अधिक हानि बलात् लगाने से होती है। एक ओर माता की अपनी इच्छा उस पर लाद देने की वृत्ति को बल मिलता है, और दूसरी ओर इसकी बिगड़ने की और हाथ पैर चलाने वाली को।

बच्चे की वृत्ति पर सदा ध्यान रखकर अपनी इच्छा को उसकी इच्छा के आधीन करके काम करने से वह आगे-पीछे अवश्य बस में आ जाता है। अबोध बालक पर, जो माता पिता के लिए बड़े प्यार का पात्र है, यदि उनका असात्विक क्रोध बने तो उससे दोनों ओर का अहित ही होगा, यह निर्विवाद है। इसका उत्तरदायित्व पूर्णरूप से माता-पिता पर है। जब यह माना जाता है कि अवगुणों भरे बालक भी 'रिफॉरमेटरी' में सुधार दिए जाते हैं तो माता पिता की स्नेहमयी छाया में बच्चा क्यों नहीं ढंग का बनाया जा सकता है। मुख्य बात होती है बालक की विशेषताओं पर, जो अच्छी हो या बुरी, ध्यान जमाये रखना और उसके अनुसार अपने कर्तव्यों को अपने अधिकार में रखना। बालक से निबटने का यही मन्त्र है।

अनुचित बात पर क्रोध आना स्वाभाविक है, परन्तु इसको थामने से ही सब ओर का कल्याण निभता है। कहा है कि जिसे क्रोध नहीं आता वह मूर्ख होता है, परन्तु उसे पी जाने वाला बुद्धिमान है।

जो बच्चा जन्म से ही स्वस्थ हो और थोड़ी समझ आने पर बीमार पड़ने लगे, तो इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा परिणाम नहीं निकालता है, कि खाने-पीने से सम्बन्धित जो बातें उसको स्वस्थ रखने की विधि हैं

ठीक समझी जाती हैं, उन्हीं में कहीं त्रुटियाँ हो रही हैं। चिन्ता द्वारा तथा शरीर मन और मस्तिष्क पर अधिक भार पड़ जाने के कारण बच्चे में क्षय इत्यादि वयस्क के समान तो होते नहीं, जो कष्ट होते हैं, वे खाने-पीने की त्रुटियों से भले ही हों। इसके लिए बच्चे का स्वभाव तो उत्तर-दायी होता ही है, माता की योग्यता पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। जब बच्चे का स्वास्थ्य ठीक नहीं चलता दीखे तो पुस्तकों से या और लोगों के अनुभव से सीखी हुई बातों पर भरोसा कम करके आगे टटोल करनी चाहिए, व दूसरे सुझावों की खोज व उनके लिए स्थान देना चाहिए, न कि अपने ही विचार व अनुमान पर अधिक भरोसा करते रहना, और परिणाम अहितकर होने पर यह सोचना, कि हम अब उसकी देख-रेख में कमी कर देंगे और उसको अपने ही ऊपर छोड़ देंगे। ध्यान देना चाहिए कि भूल कहाँ हो रही है उसे हम देख भाल से खोजें। बच्चों को जटिल रोग लग जाने का एक और मार्ग है जो वयस्क के लिए इतना नहीं होता। छूत का इस और अधिक सतर्क रहना चाहिए। गला बिगड़ने पर पेन्सीलीन के इन्जेक्शन लगे, महीने भर चैन रहा अब फिर कष्ट होने लगा, विचार करना चाहिए कि क्या खाना उसका बन्द कर दिया जावे, गरिष्ठ पदार्थों से उसे बचाया जावे थोड़ी-थोड़ी प्रत्येक वस्तु का अभ्यास डाला जावे। संक्षेप में जो गति विधि चल रही है उसमें थोड़ा इधर-उधर करके टटोल की जावे जब तक ठीक न चलने लगे।

छोटे बालक

भाई-भाई के परस्पर के व्यवहार के सम्बन्ध में अनुचित बातें देख व सुनकर विचार होता है कि बिगड़ी हुई स्थिति में सुधार करने के निमित्त कौन सी विधि बरती जावे। बालकों की आयु में थोड़ा ही अन्तर, क्रोध का वेग सबमें एकसा, भ्रातृ-प्रेम सोया हुआ सा, कैसे जगाया जाय; डाँट डपट से कुछ न होगा, उनके मनों में जगी हुई सुबुद्धि से ही उनका क्रोध घटे तो भले ही घटे। आयु में बड़े होने के नाते बड़े बालक से ही अग्रसर होने के लिये प्रेम सहित हानि-लाभ समझा कर कहा जा सकता है। यदि बड़े ने अपने को संभालना थोड़ा भी आरम्भ किया तो छोटा उसका अनुसरण करने में पीछे न रहेगा ऐसी आशा रखनी चाहिए। क्रोध से क्रोध कभी नहीं जीता जा सकता है। ज्वलित आग को पेट्रोल भला ठण्डा कर सकता है, वह तो ठंडे पानी से ही दबेगी। दो स्लेटों में एक छोटी दूसरी

बड़ी लकीर खींचकर पिता ने दोनों पुत्रों से कहा कि अलग-अलग बैठकर इन लकीरों के आकारों के परस्पर सम्बन्ध को बदल दो। एक पुत्र ने बड़ी लकीर से थोड़ा मिटाकर दूसरी से छोटा कर दिया, दूसरे ने छोटी में खड़िया से थोड़ी और जोड़कर उसको बड़ा बना दिया। इस पर पिता का उपदेश हुआ कि बड़े को छोटा करके अपना बड़प्पन स्थापित करना मिटाने जैसी निम्न क्रिया है, जिसमें सफलता का अधिक बल नहीं रहता किन्तु बड़े व्यक्ति के सम्मुख अपने छोटेपन को उठाकर उससे ऊँचा बनाने का प्रयत्न क्रियात्मक क्रिया है, जिसमें आत्मोन्नति के साथ दूसरे पर प्रभाव डालने का बल भी अधिकता से रहता है।

आक्रमण होते ही गांधी बाबा का नाम लेने से क्रोध नहीं ठहरेगा। नाम लेकर बालक देखलें। क्रोध से रक्त जलता है, शुभ लक्षणों का मार्ग रुका रहता है, व्यक्ति अज्ञान बालक सा ही सदा बना रहता है, आयु के बढ़ जाने पर भी बलहीन ही बना रहता है। बल न बढ़ पाया तो जीवन दुःखमय ही बीतता है। अतः आरंभ से ही इस शत्रु से निबटने में लग जाना चाहिए। यह सत्य बालकों की समझ में न बैठे तो घर में बड़ों को उन्हें समझाना चाहिए। 'जय हिन्द' इस युग का महा मन्त्र है। बड़े छोटे सबके आपस में करते रहने से दुर्गुणों का नाश धीरे-धीरे होकर सद्गुणों का मार्ग स्थिर होता है। इस मन्त्र के अभ्यास में ढील नहीं होनी चाहिए और न किसी प्रकार की भिन्नता। बड़े बालकों को देखकर छोटे बालक सीखेंगे।

ऐसा मुझे मन दो प्रभो जो ध्यान में तल्लीन हो,
जो आपके गुणगान के पीयूष सर का मोन हो।
तत्पर रहे दिन रात जो निज देश के उद्धार में,
सद्धर्म के व्यापार में, प्रिय दीनजन उपकार में ॥

[शेष पुस्तक के अन्त में]

(१६)

कैसे माना जाय कि ईश्वर है ?

प्रश्न—ईश्वर की स्थिति कैसे मानी जाय जिससे उसमें श्रद्धा उत्पन्न हो ?

प्रत्येक देश तथा काल के सिद्ध पुरुषों ने ईश्वर तत्त्व का जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उस अकथनीय अनुभव को प्रगट करने के प्रकारों में पृथक्ता साधारण मनुष्य को चाहे दिखती हो, परन्तु तत्त्वतः वह अनुभव समान अथवा अद्वितीय है। सिद्ध पुरुषों का समत्व बुद्धि युक्त आचरण इस बात का प्रमाण है; परन्तु संसारी मनुष्य के लिए, जिसका अन्तःकरण राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारों से मलिन है, इन सिद्ध आचार्यों के वाक्यों पर श्रद्धा जल्दी होना कठिन है। श्रद्धा होने के पहले मन और बुद्धि में पड़े संशयों का दूर होना आवश्यक है।

मनुष्य योनि सर्वोत्तम है। बुद्धि की विशेषता के कारण व्यक्ति भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में पुरुषार्थ द्वारा उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। भौतिक उन्नति हेतु उसको बाह्य जगत में उद्योग करना पड़ता है, और आध्यात्मिक उन्नति के लिए आन्तरिक विकारों को दूर करके शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर विजय प्राप्त करनी होती है। भौतिक उन्नति के प्रमाण सबको प्रत्यक्ष दीखते ही हैं।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य नित्यानन्द प्राप्त करना है। उड़ान मारने के लिए, पक्षी के दो पंखों के सदृश अथवा रथ के दो पहियों के समान, उसको भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सफलता चाहिये। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। न दायीं पहिया बाये बिना काम का न बायाँ दायें बिना। भौतिक क्षेत्र के समान ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्नति मार्ग का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है।

नोट :—जिज्ञासु के विविध प्रश्न लेखक के उत्तर में लय हुए दिख जाने चाहिए जहाँ कहीं वे स्पष्ट नहीं लिख दिए गए हैं।

ऐतिहासिक युग से पूर्व मनुष्य की परिधि बड़ी संकुचित थी। अपनी छोटी सी समाज की रक्षा के लिये उसको प्राकृतिक क्लेशों से ही निपटना रहता था। भय से पराजित होकर उपासना का आरम्भ हुआ। आरम्भ में उपासना एकमात्र कल्पना पर आश्रित रही। शनैः शनैः विज्ञानोन्नति होने से समाज की परिधि बढ़ी, परस्पर कल्याण हेतु अन्तःकरण के अज्ञान जनित विकारों को दूर करने की आवश्यकता हुई। सैनिक झण्डा अभिवादन द्वारा हृदय में देश प्रेम भरता है। सद्गुण प्राप्ति में झण्डा कल्पना मात्र ही है। इसी प्रकार आरम्भ में एक दिव्य ज्योति की कल्पना आवश्यक हुई। उस आदर्श की ओर गति बढ़ने से आत्मशुद्धि होने लगी। तब समय आया कि शुद्ध अन्तःकरण में अनुपम ज्योति का प्रकाश झलकने लगा। संशय के स्थान पर विश्वास, विश्वास से श्रद्धा, भक्ति और फिर ईश्वर के अस्तित्व का बोध स्वयं होने लगा।

रंगरूट से सैनिक—सच्चा सैनिक, पैसे का नहीं—होने के लिए झण्डा अभिवादन आवश्यक है। ईश्वर है या नहीं इस विवाद में अटक कर जहाँ के तहाँ खड़े रहने (खड़े रहने ही नहीं—अवनति की ओर फिसलने) की अपेक्षा कल्पित ईश्वर की प्रतिमा सामने रख कर्तव्य पथ पर आरूढ़ होना श्रेयष्कर है; अ—आ शुरू किये बिना क्यों कोई महा महोपाध्याय बन सकता है।

“परन्तु ऐसे ईश्वर की स्थिति कैसे मानी जाये”—मनुष्य प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियों से, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार—मैं हूँ इस ज्ञान से, तथा पाँच कर्मेन्द्रियों से संयुक्त है। संसार के जितने स्थूल, सूक्ष्म, व सूक्ष्मतम पदार्थ, व क्रियायें हैं, उनका ज्ञान व कर्तृत्व इन १४ तत्वों के द्वारा प्राप्त होता है। जागृत अवस्था में इन सबका प्रयोग होता है। स्थूल पदार्थ पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। आँख उनके आकार, रूप, रंग को देखती है, कान कहे शब्दों को सुनते हैं, नाक उनमें बसी गंध को सूँघती है, रसना स्वाद को चखती है, व स्पर्शेन्द्रिय उष्णता, शीतलता का ज्ञान देती हैं। सूक्ष्म विषयों जैसे ज्योतिष, गणित, न्याय, गुरुत्वाकर्षण इत्यादि का ज्ञान मन, चित्त, बुद्धि की एकाग्रता, व निपुणता द्वारा और ‘मैं हूँ’ का बोध सोते, जागते, प्रत्येक क्षण अहंकार द्वारा होता है। स्वप्नावस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों के व्यापार बन्द रहते हैं, मन का संसार बनता है और बुद्धि क्रिया लेशमात्र ही करती है। तीसरी

सुषुप्ति को अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि इसमें मन भी शान्त हो जाता है केवल अहंकार—‘मैं हूँ’ यह बोध बना रहता है।

जागृत अवस्था के व्यापारों से थक कर प्राणी निद्रावस्था में जाता है, और सुख चैन का अनुभव करता है। सुषुप्ति तभी होती है, जब मन सकल्पों से थक कर विश्राम लेता है। स्वप्न रहित निद्रा आने पर मनुष्य को विशेष आनन्द अनुभव होता है, सुषुप्ति में १४ तत्त्वों में से १३ का लय, होकर केवल एक अहंकार क्रियाशील रहता है। इस अहंकार को जिज्ञासुओं ने खोजा। अज्ञान लिप्त आत्मा ने जिसको जीव कहा इसी को पाया। सुषुप्ति का आनन्द नित्यानन्द—जो ईश्वर का स्वरूप है—का एक अंशमात्र है।

जागृत अवस्था में यदि मनुष्य इन्द्रियों, तथा मन, बुद्धि पर वैराज्य और अभ्यास द्वारा इतना अधिकार प्राप्त करले कि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जावें और मन संकल्प-विकल्प विहीन होकर स्थिर हो जावे, तो जैसा मुनियों अथवा यतियों ने सुषुप्ति के तमोमय आनन्द की अपेक्षा कोटि-कोटि उत्तम श्रेणी के नित्यानन्द का अनुभव किया है, वैसा वह मनुष्य भी कर सकता है। इसीका श्रुति ने वर्णन किया है, इसी तत्त्व को अविनाशी कहा है। सिद्धावस्था में जब ज्ञानी को नाशवान शरीर और अविनाशी आत्मा की अज्ञान जनित ग्रन्थि के खुल जाने का प्रत्यक्ष बोध होता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होना कहा गया है, और तब ईश्वर के अस्तित्व का अपरोक्ष ज्ञान होता है। सन्त की वाणी :—

हर जगह मौजूद है पर वह नजर आता नहीं,
योग साधन के बिना कोई उसे पाता नहीं।

ईश्वर के अस्तित्व में निश्चय का मार्ग उपरोक्त है।

दूसरा मार्ग श्रद्धा का है। किसी प्रकार की विद्या के जिज्ञासु के लिए यह अनिवार्य है, कि वह उसके आचार्यों के वाक्यों पर श्रद्धा रखकर अध्ययन करें। संशयों को निवारण किये बिना तो गति नहीं परन्तु तर्क में अविश्वास का मल न होना चाहिये। इसके होने से बुद्धि अटकी ही रहेगी। जब किसी गूढ़ व कठिन ग्रन्थ में बुद्धि अटकती है और विद्यार्थी विशेष परिश्रम करके समझने का प्रयत्न करता है तब कहीं सफलता मिलती है। शास्त्र के पठन-पाठन एवं श्रेष्ठ पुरुषों तथा सन्यासी

महात्माओं के सत्संग से श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। उनके उपदेशों से जिज्ञासु के मन में पड़े संशय शनैः शनैः निवारण होते हैं जिससे विश्वास में स्वयं वृद्धि। मनुष्य शक्ति का केन्द्र है, परन्तु यह शक्ति विधिपूर्वक अभ्यास द्वारा अपने समय से विकसित होती है। शिशु को युवक बनने में खान-पान के अतिरिक्त कोई और वाहर का आधार नहीं मिलता और न वह सप्ताह या दस दिन में उस अवस्था को पा ही सकता है, इसके लिए तो पर्याप्त अवधि चाहिये। श्रद्धा, अभ्यास, और धैर्य यह सफलता के द्वार हैं।

बुद्धि को शान्त करने के लिए विचार किया जावे, कि जब एक रेल विभाग के कुशल संचालन में कितना परिश्रम, कितनी बुद्धि का उपयोग दिखाई देता है, तो ब्रह्माण्ड के संचालन का कार्य, जिसमें असंख्य तारागण, सूर्य, चन्द्रमा की गतियाँ, अपनी-अपनी धुरी पर बिना किसी संघर्ष के, बनी रहती हैं, क्या बिना किसी नियम के हो सकता है। जब नियम है तो नियम कर्ता अवश्य होना चाहिये। हाँ वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों की पहुँच से परे अवश्य हैं। भक्त को साकार रूप में दीख जाता है मानो उसकी दृढ़ भावना ही यह रूप धारण कर उसके सामने उपस्थित होती है।

जितना विचार सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और अन्त में नाश के क्रम पर किया जाता है, उतना ही ईश्वर की अपार महिमा का विश्वास होता है। जीव की गर्भस्थिति से मृत्यु तक के परिवर्तनों की ओर ध्यान दिया जावे, साथ मनुष्य देह के अवयवों की बनावट व उनके कार्यों के प्राकृतिक नियमों पर विचार किया जावे, भगवान् की सत्ता सबमें ओत-प्रोत दिखेगी, परन्तु ज्ञान चक्षुओं द्वारा ही।

“ताकि श्रद्धा उससे उत्पन्न हो”—जिज्ञासु को पथ प्रदर्शन अवश्य होता है, परन्तु जिज्ञासा शुद्ध व स्थायी होनी चाहिए।

मनुष्य शरीर में पाँच कोष हैं—

(१) अन्नमय (शरीर) (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) ज्ञानमय (५) आनन्दमय।

पाँचों ही की तुष्टता में पूर्ण सुख चैन और शान्ति का अनुभव होता है। शरीर स्वस्थ हुआ और मन दुखी तो चैन कहाँ। आनन्द प्राप्ति के लिए इन सबमें सम्यक विकास आवश्यक है। ज्ञान बहुत हो गया पर यदि

अन्तःकरण में विकार भरे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, कपट, अहं-कार इत्यादि तो सुख कहाँ ।

इन कोषों की उन्नति एक दूसरे की अनुपूरक, एक के बिना दूसरी पंगु; एक पहिए की गाड़ी यदि चल भी सकी तो खड्डे में ही गिरावेगी ।

संसार छोड़ा नहीं जाता वह तो स्वयं छूटता है जैसे वृक्ष पके फल से पूर्ण ज्ञानावस्था में संसारी सूखों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता जैसे सोने के सामने पीतल का । शरीर और इन्द्रिय सम्बन्धी सब सुख अन्त में दुःख के ही हेतु होने से ज्ञानी की दृष्टि में अपना मूल्य खो देते हैं । नित्यानन्द वह है जो एक बार प्राप्त होने पर सदैव प्रति क्षण बना रहे । ऋषि मुनि ज्ञान के भण्डार होते हैं, इसलिये संसार उनसे छूट जाता है । साधक अवस्था में संसार त्याग का ढोंग दम्भ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; यदि किसी ने मूर्खता से त्याग भी दिया, तो उसके विनाश का भय पीछे लगा रहता है । संन्यास यती का मार्ग है न कि साधक का । यतित्व प्रायः पूर्व संस्कारों का भी फल होता है, जैसे स्वामी दयानन्द विवेकानन्द इत्यादि के सम्बन्ध में ।

शास्त्र यह नहीं कहता कि संसार छोड़ दो । वह तो संसार भोगने की उस विधि को बतलाता है, जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों की प्राप्ति होती है । विवेक द्वारा संसारी पदार्थों का वास्तविक मूल्य जानो, और इस ज्ञान के प्रकाश में अपने स्वाभाविक धर्म पालन द्वारा तुष्टि, पुष्टि, और शांति अनुभव करते हुए जीवन व्यतीत करो ।

विधि संक्षेप में यह है—फलाशा और कर्म की आसक्ति त्याग कर स्वधर्मानुसार कर्तव्य कर्म उत्साह पूर्वक मरण पर्यन्त करते रहना । निष्काम कम अन्तःकरण के विकारों को धीरे-धीरे दूर करते हैं । निर्मलता आने पर प्रेम और भक्ति का उदय होता है, और सात्त्विक सुख, जिसमें दुःखों का अन्त हो जाता है, मिलता है, इन्द्रिय विषयों का भोग श्रेष्ठ कर्मों द्वारा सुहाता है, और पाप कर्म से घृणा हो जाती है ।

भगवान् कृष्ण का यही उपदेश है, संसार त्याग का उपदेश तो निरी साम्प्रदायिक मूर्खता है—छिपा हुआ स्वार्थ व दम्भ है । सब संन्यासी हो जावें तो संसार चले ही कैसे परन्तु यदि भगवान् के उपदेशानुसार सब कर्म-योगी बन जावें तो पृथ्वी में स्वर्ग विराजने लगे, और देशों में राम राज्य ।

[पद पुस्तक के अन्त में दिए हैं]

हिन्दू धर्म और उसके अन्तर्गत विचार

हिन्दू धर्म मूलतः वेदाश्रित है। वेदों के कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड, श्रुति और स्मृति इन सब से इसका विस्तार बहुत बड़ा हो गया है। इसमें ऋषि मुनियों के पृथक्-पृथक् विचारों का समावेश अनन्त-काल से होते रहने से कितने ही मार्ग बनते रहे हैं, जो एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः एक ही सूत्र में पिरोये हुए हैं। इसमें श्रेय मार्ग के प्रत्येक श्रेणी के पथिक के लिए स्थान है। प्रत्येक की शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रता से विचारने का अवसर प्राप्त है। अज्ञानियों का आक्षेप होता है कि इसमें संगठन शक्ति का प्रायः अभाव-सा ही है, बालू रेत के प्रत्येक दाने के समान अलग अलग। यह धर्म का दोष नहीं मानव स्वभाव की भिन्नता और साथ निम्नता भी है। जितना उच्च ध्येय उतनी ही उस तक पहुँचने में कठिनता। इसके संगठन की जड़ विश्वव्यापी एकता के सात्विक ज्ञान पर आरुढ़ है, इसी कारण समय, काल और युगों के सब प्रहारों को सहते हुए आज भी यह धर्म अटल है; क्षराक्षर विचार इसका मूलाधार है। प्रतीत होने वाली अनन्त भिन्नता में एक अक्षर तत्व, जिसको परमात्मा कहते हैं, और उसी तत्व से यह सारा दृश्य प्रपञ्च; इस ज्ञान द्वारा प्राप्त जीवन में आचरण के श्रेयस्कर नियम, रीति-रिवाज, जन्म-मरण, विवाह, समाज व्यवहार, नीति शास्त्र, जाति प्रेम, देशप्रेम, विश्व प्रेम आदि।

शास्त्र के “शान्ति, तुष्टि, पुष्टि” तीनों वाक्य एक दूसरे से गुथे हुए समान हैं, न कोई न्यून न अधिक, एक दूसरे के बिना अपूर्ण। रथ के पहियों में किसको किससे विशेष कहा जावे, तथापि इनमें एक बड़ा भेद है। आधि-भौतिक उन्नति (पुष्टि) का काम मनुष्य की निम्न प्रकृति द्वारा चल जाता है,

नोट—जिज्ञासु के विविध प्रश्न लेखक के उत्तर में लय हुये दिख जाने चाहिए जहाँ-कहीं वे स्पष्ट नहीं लिख दिए गए हैं।

यह प्रायः श्रेष्ठ-ज्ञान विहीन होती है। पानी का नीचे वहना स्वाभाविक, इसलिए सरल परन्तु उसको ऊपर उठाना कठिन। ज्ञान प्राप्ति (शान्ति तुष्टि) में कठोर साधन और परिश्रम, ज्ञान विहीन कार्यों में इनकी न्यूनता एवम् अभाव।

मनुष्य के स्वाभाविक व प्राप्त गुणों का सदुपयोग इसमें है, कि वह अपनी निम्न प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करके, आध्यात्मिक क्षेत्र में उठता जावे। आधिभौतिक उन्नति के मोह में यदि उन गुणों से अनुचित काम लेने का प्रयत्न करेगा तो न तो उसका अधिकांशतः मन्तव्य ही पूरा होगा और न ही गुणों की वृद्धि का मार्ग खुला रहेगा; मार्ग बन्द ही नहीं किन्तु पतन की ओर गति का आरम्भ भी हो जावेगा।

मोह की जड़ अज्ञान में रहती है; अज्ञान है—आत्म दर्शन का अभाव। आधिभौतिक उन्नति का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रियों, व मन के भोगों से है। इनकी प्राप्ति का मोह अज्ञानी को रहता है। गुणों से अयथार्थ काम लेना मान, प्रतिष्ठा, स्वार्थ सिद्धि के निमित्त कुछ का कुछ दिखलाने का प्रयत्न करना, अपने को यह धोखा देकर कि दो चार गुणों से नाता जोड़कर दूसरों की बुद्धि पर परदा डालने में समर्थ हो सकेंगे इत्यादि।

कर्मयोग शास्त्र संसार को मिथ्या नहीं बताता, वह तो इसको कर्म-क्षेत्र मानकर मरण पर्यन्त विधिपूर्वक निष्काम कर्म करना सिखाता है। मिथ्या तो संसार उनकी दृष्टि में है जो पूर्णतया जागते हैं, जैसे साधारण मनुष्य के जाग जाने पर स्वप्न भूटा हो जाता है। साधन काल की अवस्था में तो संसार की वास्तविकता अवश्य माननीय है।

आध्यात्मिक साधन के सम्बन्ध में प्रेरणा शास्त्र द्वारा ही ली जाती है, क्योंकि इसके लिए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा आत्मबल सबकी आवश्यकता रहती है, किन्तु आधिभौतिक उद्योग में से चार का योग तो होता ही है पाँचवें अर्थात् आत्मबल का हुआ भी तो न्यून ही, जो वैयक्तिक एवं सामष्टिक कल्याण के लिए पर्याप्त नहीं। आधुनिक संसार इस वाक्य की सत्यता का डंका पीट रहा है।

अक्रोध क्रोध

व्यवहार में क्रोध करे परन्तु मन से नहीं। अधिकारी को ऊँच, नीच व मध्यम स्वभाव वाले प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों के सम्पर्क में आना पड़ता है। नीच से क्रोध करना व्यर्थ है, उसको तो अपनी शक्ति का प्रयोग करके दण्ड देना ही ठीक है, परन्तु मध्यम श्रेणी के मनुष्य के साथ क्रोध का व्यवहार कभी-कभी रोका नहीं जा सकता; बुद्धि प्रेरणा करती है कि उसकी आवश्यकता है। ऐसे अवसर पर उत्तेजना का प्रदर्शन तो रहे परन्तु इस प्रयत्न में लगे रहना चाहिये कि आन्तरिक शान्ति न भंग होवे। अभ्यास से यह वृत्ति प्राप्तव्य है ऐसा धीर पुरुष विश्वास रखे। इससे अन्तःकरण की अशुद्धि धीरे-धीरे मिटती है। बड़ा अच्छा उपदेश है, जो इसको अभ्यासेगा वह इसका शान्ति फल पायेगा और अपनी कर्मशीलता व योग्यता बढ़ायेगा।

विद्वानों, महात्माओं, संन्यासियों के भाषणों द्वारा वेदों के कुछ अंशों का सुनना अथवा उपनिषदों के इधर-उधर के मन्त्रों तथा उन पर दिये हुये प्रवचनों को पढ़ना या सुनना, इससे थोड़ा ज्ञान अवश्य होता है परन्तु यह अध्ययन नहीं कहा जा सकता। गीता जो इन सबका सार कही व मानी जाती है यदि इसी के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित होकर जैसा समय मिले इसके अध्ययन में नियमित रूप से मनुष्य लगे तो बड़ा लाभ होता है। महाभारत, पुराणों, स्मृतियों के इधर-उधर के प्रसंग सुनने में चाहे आते रहें परन्तु उनके पढ़ने को इतना समय नहीं मिलता। अध्ययन के लिए जो समय मिले गीता में ही उस सब को लगाने से अधिक श्रेय साधन होता है। ज्यों-ज्यों आप्त पुरुषों के विवेचन पढ़ने में आते हैं भगवान के प्रत्येक वाक्य में बड़ा तत्व विस्तार से भरा दीखने लगता है। बड़ा आकर्षण तो इस बात में मालूम होता है कि उन वचनों का सार मनुष्य को अपने जीवन के अनुभवों से सत्य रूप में प्रत्यक्ष दीखता है।

रामायण को पढ़कर समाप्त कर देने से भी, उसमें भरा हुआ भक्ति रस मनुष्य पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाता जब तक श्रद्धा में वृद्धि नहीं होती,

हाँ उसके आध्यात्म विषयक जितने अंगों में जो वेदान्त भरा है उनमें बुद्धि के आश्रय से मन लगता है और वे ही गीता ज्ञान की प्राप्ति में बलदायक होने हैं ।

कभी किसी प्रकार के लेख लिखने का या भाषण देने का अभ्यास न होने पर भी यदि सुने-सुनाये, पढ़े-पढ़ाये ज्ञान को मनुष्य प्रयोग में—आंशिक प्रकार से ही सही—लाने के प्रयत्न में लगा रहे तो प्रसंगानुसार बातचीत में अथवा पत्रों में लिखते रहने के अभ्यास से, जो भी विषय सामने आवे उस पर ही अपने विखरे हुए विचारों को समेटने के प्रयत्न से बहुत सा लाभ हो सकता है ।

धर्म की छाप अनुयायी के शरीर, मन, बुद्धि, वाणी, आचार विचार, व्यवहार, वेशभूषा, रहन-सहन खाने-पीने, गृहस्थ व समाज जीवन सभी के ऊपर पड़ती है; सब धर्मों के सिद्ध पुरुषों की एकसी ही स्थिति अधिकतर होती है, परन्तु साधारण मनुष्यों में धर्म-कर्म की भिन्नता प्रत्यक्ष दीखती है, धर्म-धर्म की ही नहीं अपितु व्यक्तित्व-व्यक्तित्व की भी ।

परमेश्वर—परमेश्वर की सत्ता व स्वरूप निःसन्देह निर्वचनीय है; जिसके जैसे मस्तिष्क में आया गया परन्तु अन्त नहीं पाया । संक्षेप में सच्चिदानन्द ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप में विश्व की उत्पत्ति पालन व संहार करने वाला ।

धार्मिक संस्कार—जीवन में उल्लास हेतु प्रत्येक शुभ अवसर पर उस सर्व शक्तिमान की उपासना रूप में कल्पित देवताओं का पूजन व काम्य पदार्थों की प्राप्ति हेतु भक्ति भाव के उद्गारों का प्रगट करना; सार्थकता श्रद्धा और विश्वास के अनुसार मनोयोग द्वारा फल प्राप्ति ।

नारी के प्रति भावना—गृहस्थ जीवन के दो पंख । एक के बिना दूसरा पंगु, गृहस्थ तथा संन्यासी की मान्या, पूज्या व सर्वश्रेष्ठ पदाधिकारिणी माता ।

जाति की ओर दृष्टि—गुण भेद से चातुर्वर्ण्य में विभाजित; पृथक्-पृथक् कर्म होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से समानता, यद्यपि वर्तमान समय में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप भयंकर, पृथक्ता के स्वार्थमय भेद से दोषयुक्त परस्पर का अनुचित व्यवहार और फलतः भिन्नता और संग-ठन का अभाव । यह अवस्था बड़ी शोचनीय, सुधार नितान्त आवश्यक है ।

स्वर्ग-नरक—चौरासी लक्ष योनियों में ही स्वर्ग और नरक बसे हैं। इनकी स्थिति कल्पनाश्रित ही लगती है।

कल्पना—चित्रकार अपने आन्तरिक विचारों व धारणाओं को कुशलता पूर्वक चित्रित करता है। कल्पना बड़ी आदरणीय व प्रशंसनीय है न कि तिरस्कारणीय। कल्पना पर निर्मित विश्वास नहीं, अपितु विश्वास पर निर्मित कल्पना।

ज्ञानेन्द्रियों के संयोग द्वारा बुद्धि गम्य ज्ञान, ज्ञान से श्रद्धा, श्रद्धा से विश्वास, विश्वास से कल्पना, कल्पना विश्वास का मानसिक रूप है।

दशमलव प्रणाली—अणु से लगाकर महतो महान, विश्व व्यापी गणनाओं में उपयोगी; दशमलव बिन्दु की दोनों दिशाओं में अनन्त की ओर गति।

यह प्रणाली अपनी पूर्णता के कारण संसार व्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म-बुद्धि पूर्वक निर्मित, उन द्रष्टाओं द्वारा जिनकी बुद्धि की श्रेष्ठता इस प्रणाली की सर्व व्यापकता सिद्ध करती है।

अक्षर ब्रह्म — अद्वितीय पुरुषोत्तम, महान से भी महान १; प्रकृति-पुरुष, २; ब्रह्मा, विष्णु, महेश (उत्पति पालन विनाश), ३; दिशा, ४; ज्ञानेन्द्रियाँ, ५; ६ का अंक सर्व महान, परमात्मातुल्य।

किसी संख्या को ६ से गुणा कर देने पर शेष ६ ही का बना रहना उदाहरण— $४६३ \times ६ = ४१६७$, $४ + १ + ६ + ७ = १८$, $१ + ८ = ९$ । जीव ईश्वर मय हो जाने पर तद्रूप हो जाता है, तद्रूप अर्थात् सब प्रकार से शुद्ध श्रेयस्कर।

बिन्दु (जीरो)—सूर्य चन्द्र के गोलाकार से कदाचित् इसकी कल्पना, ब्रह्मा तुल्य, स्वयं समत्व, स्वरूप शान्त, गतिहीन। किसी अंक के पूर्व निरर्थक परन्तु अंक के पीछे रखने से गति का संचालन—यह अनन्त माया प्रभु के आश्रय की महिमा।

शून्य—केवल काल्पनिक विचार है जैसे इमशान की शान्ति में शान्ति का। शून्य से अखण्डता अनन्तता की ओर ध्यान लगाने में सहायता मिलती है। ब्रह्माण्ड के परे शून्य तो साधारण मनुष्य के कल्पनानुसार अवश्य होना चाहिये। जैसा यह शून्य, सम शांत गतिहीन तथा विशाल है वैसा ही ब्रह्म, सम, शान्त, गति विरहित इत्यादि किन्तु चैतन्य स्वप्रकाश।

[पद पुस्तक के अन्त में दिया है]

हमारे पण्डित जी तथा अन्य विभूतियाँ

पण्डितजी की वाणी भारत संस्कृति की वाणी हो रही है; वातावरण अनुकूल होने से वह आधुनिक संसार के कोने-कोने में फैल रही है। आकाशवाणी द्वारा यह कार्य सुगमता तथा वेग से हो रहा है। शान्ति की भावना भारत संस्कृति की दृढ़ नींव पर होने लगी है। इससे भविष्य के उज्ज्वल और मंगलमय होने की आशा है। सब देशों की दृष्टि भारत के रत्न महात्मा गांधी [इस युग के अवतार] के धर्म-पुत्र नेहरू जी पर लगी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देश-देशों में उनके अतिशय महान स्वागत से मिलता है। पण्डित जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा, जो पाश्चात्य वातावरण में हुई थी उसके, द्वारा उनमें पूर्व पश्चिम के अपूर्व समुञ्जय ने विशेष आकर्षण उत्पन्न कर दिया, बड़े देशों के उन महान पुरुषों की दृष्टि में भी, जो आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध में महात्मा गांधी को 'नंगा फकीर' और आदर्शवादी की कटाक्ष से उपाधि देने में गौरव समझते थे। रूपरंग, शरीर व मुख की प्राकृतिक सजावट ने भी उनको प्रत्येक देश के महान से महान व्यक्ति की बराबरी में समता का जामा पहना रक्खा है। सादी स्वदेशी पोशाक, शेरवानी अचकन सुडौल शरीर पर, शुद्ध श्रेष्ठ उज्ज्वल खादी की तीखी गांधी टोपी मस्तक पर, चलचित्र में उनको विदेशियों के बीच अपने स्वाभाविक वेश-भूषा में पाकर, भारतवासियों की दृष्टि में उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ गई है। स्वतन्त्रता संग्राम के मार्शल महात्मा गांधी के प्रधान जनरल श्री नेहरू, लाल किले के शिखर से भारतीय झण्डे की छाया में, १५ अगस्त स्वतन्त्रता दिवस को विशाल जन-समूह के सामने, सिंह गर्जना करते हुये ऐसे दीखे जैसे आकाश में कोई देवता गोआ के प्रतिनिधियों को सचेत कर रहा हो, कि दुर्बुद्धि को त्यागकर धर्म के रास्ते पर आओ, अन्यथा दुर्गति के मार्ग में पड़ोगे। शस्त्र रहित शान्ति के पुजारी नरनारियों पर गोली

चलाना मानवता नहीं पशुता है, ऐसी वृत्ति वाले साम्राज्य का विनाश स्वयंभावी हैं। क्या पुर्तगाल का हृदय इतना हीन हो गया है कि उसको दूसरा मार्ग ही इन सत्याग्रहियों से निबटने का नहीं दीखा। फिरंगियों ने जब यह नीति बरती थी तो क्या सफलता पा ली थी, उनके सामने यह निकटवर्ती उदाहरण प्रत्यक्ष होना चाहिए था। अमर शहीद के रक्त के कण-कण से अनगिनत अभयों की उत्पत्ति हो जाती है। संसार का इतिहास सामने है।

नेहरू जी की सरल वाणी अब स्वतन्त्रता पाने पर भारतवासियों में अपने भविष्य को शीघ्रता से सुधारने में तन-मन से लगने के लिए निशदिन उत्साह उत्पन्न करती है, परन्तु स्वतन्त्रता दिवस के उस गम्भीर अवसर पर, जब जनता के मानसिक नेत्रों के सामने स्वयं अपने जीवन काल की अनेक दुःखद स्मृतियाँ मानों साकार रूप में खड़ी हों, वह वाणी हृदय में एक किसी अज्ञात शक्ति का अपूर्व प्रवाह उत्पन्न करके स्व शपथ के लिये देश प्रेमियों को बाध्य-सा करती है कि देश निर्माण के पवित्र कार्य में पूरा योग देंगे; महान पुरुषों व आत्माओं का यही मुख्य कर्तव्य होता है; उनकी वाणी में जीवन भर के त्यागमय चमत्कार अथवा कर्मयोग की ज्योति विद्यमान रहती है जो श्रोताओं के हृदयों को प्रकाशित करती है।

नेहरू जी को एक बार ३२, ३३ वर्ष पूर्व जब वे नवयुवक थे, अपने भाषण में कहते हुये सुना था कि मुझे अपनी मातृभाषा में केवल ग्रामीणों के सामने बोलने का अभ्यास है, उसी में उनकी वृद्धि होती रही, अंग्रेजी के भाषण में तो उनमें बड़ी योग्यता है ही।

भावना में एक्यता की महत्ता का दिग्दर्शन नेहरू जी की रूसी यात्रा वाले चलचित्र ने प्रत्यक्ष करा दिया। कितना उत्साह, कितनी उमंग, कितना सम्मान, कितना परस्पर का स्वाभाविक प्रेम। शान्तिदूत के दर्शन-मात्र से जब इतना बाह्य परिवर्तन (आन्तरिक तो नकलियर शस्त्र का भय करा ही चुका था) संसार को देखने को मिला, तो कल्पना की जा सकती है कि शान्ति देवी मन्दिर की स्थापना होने पर मानवता में कितना उत्कर्ष दीखेगा। डारविन कथित मानवता की परिपक्वता (शरीर

से तो पूर्ण हो चुका मनुष्य, अन्तःकरण की बारी है) तथा श्री अरविन्द कथित महामानव युग की रेखा दीखने लगी है।

सात्विक सुख ही स्थायी सुख हैं, विषयों में सुख नहीं, यह तो अनित्य और परिणाम में दुःख का ही हेतु है। सात्विक सुख 'आत्म-बुद्धि प्रसाद' हैं अर्थात् उसकी उत्पत्ति उस बुद्धि की निर्मलता में है, जो आत्म-ज्ञान में स्थित हो; आत्मज्ञान का मुख्य लक्षण स्वार्थ त्याग तथा समष्टि-हित भावना है। इस नित्य सुख में कितना आकर्षण भरा है, यह संसार शान्ति की स्थापना होने पर ही (यदि हो सकी तो, कुछ काल के लिये ही सही) अनुभव कर सकेगा, और तब यह समझेगा कि पृथक्ता के भाव में सब ओर कितना क्लेश है।

भारत रत्न नेहरू व उनकी पुत्री इन्दिरा देश देशों के विभूति मंत तथा श्रीमन्त नर-नारियों में प्रत्येक प्रकार से सम्भूषण प्रतीत हो रहे हैं। यह चलचित्र भारतवासियों में उनके प्रति अगाध प्रेम की धारा और भी वेग से प्रवाहित करेगा।

श्री अरविन्द ने दीर्घकालीन योगाभ्यास द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से घोषणा की है, कि युग आ रहा है कि मानव स्वभाव समष्टि रूप से उन्नति की ओर झुकेगा और समय पाकर दैवी सम्पदा को प्राप्त होगा। उनकी लिखी हुई पुस्तक "डिवाइन लाइफ" में बड़े गूढ़ विषयों पर विवेचना है, उनके विचारों को ग्रहण करना कठिन है।

"कूटनीतिज्ञ, चाणक्य"—ऐतिहासिक उपन्यास में से उनके साम, दाम, दण्ड भेद नीति के कुछ कार्य उदाहरण रूप में सुने। महान सफलता प्राप्त होने पर राजसभा में उनको उत्तमोत्तम पुरस्कार भेंट करने की योजना की गई, परन्तु उन्होंने सबको त्याज्य समझकर अपनी भोंपड़ी का जीवन ही पर्याप्त समझा। प्रश्न हुआ कि आजकल के राजनीतिक वातावरण में, जहाँ सब ओर इतना कपट बरता जाता है, कार्यकर्त्ता उच्च मनोवृत्ति धारण किये अधर्म और निकृष्ट कर्मों के करने से कैसे बच सकता है; निष्काम कर्मयोग का ऐसी स्थिति में क्या उपयोग रह जाता है।

उत्तर में—सिद्धावस्था में पहुँचे हुये निष्काम कर्मयोगी के कर्म बाह्य रूप से पाप युक्त भी चाहे प्रतीत हों, वे निःसन्देह लोक संग्रह के

निमित्त ही होंगे; कारण सिद्धावस्था में स्वार्थ का पूर्ण लोप होने से अन्तः-करण निर्मल हो जाता है। अतएव चाणक्य के साम, दाम दण्ड भेदी सम्पूर्ण कर्म, जिनमें छल, कपट, चोरी, भूठ इत्यादि अधम विधियों का समावेश था, पाप रहित अर्थात् बन्धन से मुक्त माने जा सकते हैं, यदि यह निश्चय हो कि वे एक सिद्ध कर्मयोगी हो गए थे, उनकी त्याग वृत्ति से तो यही अनुमान होता है।

साधक की श्रेणियाँ अनेक हैं, परन्तु उन सबमें उन्नति के मार्ग पर चलने की प्रबल इच्छा व दृढ़ धारणा का सूत्र पिरोया हुआ अवश्य होना चाहिये, नहीं तो वे सच्चे साधक नहीं। सौ में से छल कपट के ४९ कर्म यदि स्थितिबश, वातावरण बश, अथवा अपनी निम्न प्रकृतिबश होंगे, तो ५१ शुद्ध भी बनेंगे, और यह दो ही की बचत उसको ऊपर चढ़ाने में सहारा देगी। शनैः शनैः यह बचत बढ़ती जावेगी जिससे गति में वृद्धि होगी, और उस की श्रेणी दिन-दिन उठेगी। इस प्रकार कर्मयोग मार्ग में प्रत्येक श्रेणी के साधक के लिये बिगड़ी से बिगड़ी सांसारिक स्थिति में भी स्थान रहता है, मूलतः कर्मयोग में श्रद्धा होनी चाहिये। बुद्धि के निश्चल होने पर ही श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है।

यह आशा तो रखनी ही चाहिये, कि जिनेवा सम्मेलन के पश्चात् दोनों ओर की नक्किलर शस्त्र की धुन ठंडी हो जावेगी, नहीं तो वहाँ सब शुभ संकल्पों की बातें केवल दिखावटी थोड़ी ही हुई हैं। सर्वनाश के भय ने ही वहाँ के मन्तव्यों में जान डाल दी है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे के प्रति इतने अविश्वास का फिर भी बना रहना मानव स्वभाव की निम्नता का ही उदाहरण है। आइक का मन्तव्य बड़ा साहसी और प्रगतिशील लगा। या तो रूस मन में सोचता है कि जो धाक लौहावरण द्वारा जम रही है उसकी वास्तविकता खुल जावेगी, या फिर वह डरता है कि उसके गुप्त रहस्यों को जान कर अमेरिका अपना वल तुरत बढ़ा लेगा। भय ने शुभ-संकल्प का प्रारम्भ तो कर दिया, परन्तु जब तक दोनों ओर का अविश्वास नहीं मिटेगा गति आगे नहीं होगी। गोलमेज परामर्श द्वारा ही अविश्वास धीरे-धीरे घटेगा, इसका क्रम बनना चाहिये। आशा है कि बनेगा। समयानुसार अवतार होते रहे हैं, इस युग का अवतार हाईड्रोजन बम कहा जावे तो अनुचित न होगा, विश्व शान्ति उसी के द्वारा होती दीखती है।

[पद पुस्तक के अन्त में दिया है]

(१९)

सत्संग का विस्तार

प्रश्न—सत्संग की क्या भूमिका है ?

भगवान ने गीता १७, २६, २७ में कहा है कि अस्तित्व, साधुता और यज्ञदान तपादि प्रशस्त कर्मों में विशेषणार्थ 'सत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, और परमेश्वर के लिये शुभ कर्मों में दत्तचित्तता को भी सत कहा है—अतः कोई भी संग, जो आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के लिये सहायक हो, सत्संग कहलाता है। जिन आश्रमों में ज्ञानी एवं महात्माओं का आगमन हो और जहाँ उनकी अमृतवाणी की वर्षा होती हो, उन स्थानों में नियमित रूप से पहुँच कर एकाग्र मन से उनके उपदेशों को आदि से अन्त तक श्रवण करना गुरु शिष्य सत्संग है। कृष्टानों का रविवार को गिरजों में उपदेशों को मन लगा कर सुनना सत्संग है। एकान्त में बैठकर श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन चरित्रों पर मनन करना—उनके किये कर्मों से उपदेश ग्रहण करना—उनके वचनों पर जो शास्त्र रूप में विद्यमान हैं श्रद्धा पूर्वक चलने के प्रयत्न में लगे रहना—यह दूसरा प्रकार है सत्संग का; ऐसे समय में मनुष्य की निम्न प्रकृति अपनी दैवी प्रकृति के सत्संग से लाभ उठाती है।

गायत्री के मंत्र सदृश अन्य मन्त्रों में, जिसमें विशेष रुचि दीखे, मनोयोग द्वारा जप करना, ध्यानावस्थित होना, भगवान के गुणानुवाद का कीर्तन करना, जहाँ कीर्तन हो रहा हो वहाँ प्रेम सहित पहुँचना, यह अपनी आत्मा के साथ सत्संग करने का स्वरूप है।

गीता १०। ८-९ से भगवान के वचनों से उपदेश मिलता है, कि ईश्वर में चित्त स्थिर करे, उसके कार्य के लिये जीवन समर्पण करे, स्वयं उसका ज्ञान प्राप्त करके उसे दूसरों को देने का प्रयत्न करे, उसके गुणों का संकीर्तन करे, गुणगान में आनन्द अनुभव करे, एवं समान वृत्ति के

व्यक्तियों में बैठकर ईश्वर सम्बन्धी परस्पर के विचारों का आदान-प्रदान करे ।

प्राकृतिक दृश्यों, नियमों, फूल-पत्तियों, आकाश में तारागणों, वृक्षों, पर्वतों, सागरों इत्यादि की अनन्त महिमा तथा विचित्रता में मन लगाने को ईश्वर तत्व से सत्संग करना है । इसी प्रकार परमात्मा के अंश स्वरूप अबोध शिशु, पशु, पक्षी, जीव जन्तुओं की विशेषताओं पर विचार करना ।

सामूहिक मौन जप में भाग लेना; सहस्रों मनुष्यों के एकत्रित मनोयोग की धारा बड़ी प्रबल होती है, निर्बल मन को तत्काल शक्ति प्रदान करने में बड़ी सहायक होती है । इस अभ्यास से जिज्ञासु को गति एवं लाभ मिलता है । राधा स्वामी मतावलम्बियों के, तथा माता आनन्दमयी के सामूहिक जप, मुस्लिम भक्तों की जुम्मा नमाज़, स्वामी चिन्मायानन्द जी का सामूहिक ध्यान, रोटरी क्लब में मौन समुपस्थिति, थियोसोफिकल-संस्थाओं की सभाओं में सामूहिक ध्यान—ये सब सत्संग के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं ।

“निर्वैरः सर्वं भूतेषु” (गीता ११:५५) अर्थात् सबका सबके प्रति प्रेम व्यवहार—यह सत्संग का सात्त्विक स्वरूप है ।

ऊपर लिखे हुये सत्संगों का वर्णन कविता रूप में आगे देखिये (किसी किसी का स्थानानुकूल)

आत्मसंग—

किस सोच विचार में बैठे हो, मन शुद्ध करो भाई एक छन को ।
मन से चिन्ता को दूर करो, और त्यागो ध्यान विषय धन को ॥

परित्राण के प्रति तुम व्याकुल हो,

तुम आकुल हो प्रभु दर्शन को ।

प्रभु पूजा में अनुराग करो, और प्रस्तुत हो प्रभु कीर्तन को ॥
भक्ति और प्रेम के फूलों से, भरपूर करो हृदय कानन को ।
एकान्त सदा रस पान करो, और शान्त करो अपने मन को ॥
भजन—

श्री राम कहने का मजा, जिसकी जुवां पर आ गया ।

मुक्त जीवन हो गया, चारों पदारथ पा गया ॥
 लूटे मजे ध्रुव भक्त ने, हरिनाम के परताप से ।
 सम्मुख प्रभु को पा गया, त्रैलोक्य में यश छा गया ॥
 प्रह्लाद को लागी लगन, उस पारब्रह्म के नाम की ।
 नरसिंह हो दरशन दिया, हिरदे में अपने लगा लिया ॥
 विमुख हो सकता नहीं, वह श्याम सुन्दर साँवला ।
 जिसने भी सुमिरन किया, उसको दरश दिखला दिया ॥
 वेद सनकादिक मुनी, सब ध्यान में रहते मगन ।
 भक्त में एक दास तुलसी, राम रस बरसा गया ॥

गजल—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा ।
 जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा ॥
 पकड़ कर इश्क की भाड़ू, सफाकर हिज्रए दिल को ।
 दुई की धूल को लेकर, मुसल्ले पर उड़ाता जा ॥
 मुसल्ला फोड़ तसबी तोड़, किताबें डाल पानी में ।
 पकड़ दस्त तू फरिश्तों का, गुलाम उनका कहाता जा ॥
 न मर भूखा न रख रोजा, न जा मस्जिद न कर सिज्दा ।
 बज़्र का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा ॥
 हमेशा खा हमेशा पी न, गफलत से रहो एक दम ।
 नशे में सैर कर अपनी, खुदी को तू जलाता जा ॥
 न हो मुल्ला न हो बम्हन, दुई को छोड़, कर पूजा ।
 हुक्म है शाहकलन्दर का, अनलहक तू कहाता जा ॥
 कहे मंसूर मस्ताना, हक मैंने दिल में पहचाना ।
 वही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा ॥

प्रकृति संग—

विमल इन्दु की विशाल किरणें, प्रकाश तेरा बता रही हैं ।
 अनादि तेरी अनन्त माया, जगत को लीला दिखा रही हैं ॥
 प्रसार तेरी दया का कितना, जो देखना हो तो देखे सागर ।
 तेरी प्रशंसा का राग प्यारे, तरंग मालायें गा रही हैं ॥
 तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना,

वो देख सकता है चन्द्रिका को ।

तुम्हारे हँसने की धुन में नदियाँ, निनाद करती ही जा रहीं हैं ॥
 विशाल मन्दिर की यामिनी में, जिसे देखनी हो दीप माला ।
 तो तारिका गण की ज्योति उसका, पता अनूठा बता रही हैं ॥
 प्रभो ! प्रेम मय प्रकाश तुम हो, प्रकृति पद्मिनी के अंशु माली ।
 असीम उपवन के तुम हो माली, धरा बराबर जता रही हैं ॥
 जो तेरी होवे दया निधि, तो पूर्ण होता ही है मनोरथ ।
 सभी यह कहते पुकार करके, यही तो आशा जिला रही है ॥

मोहन संग—

अपने सुप्रेम रस का, प्याला पिला दे मोहन ।
 तेरे में अपने को हम, जिसमें भुला दे मोहन ॥
 निज रूप माधुरी की, चसकी लगा दे मोहन ।
 मुँह से कभी न छूटे, ऐसी छका दे मोहन ॥
 सौन्दर्य विश्व भर में, फैला हुआ जो तेरा ।
 एकत्र करके उसको, मन में दिखा दे मोहन ॥
 अस्तित्व रह न जावे, 'हम' का हमारे ही में ।
 'हम' को जला दे, तू अब, ऐसी प्रभा दे मोहन ॥
 जल कर नहीं हैं हटते, जो रूप की शिखा से ।

हमको पतंग अपना, ऐसा बना दे मोहन ॥
 मेरा हृदय गगन भी, तब राग में रंगा हो ।
 ऐसी उषा की लाली, अब तो दिखा दे मोहन ॥
 आनन्द से पुलक कर, हो रोम रोम भीने ।
 संगीत वह सुधामय, अपना सुना दे मोहन ॥

सामूहिक कीर्तन (आरती)—

आरती लीजो अज अविनाशी, पूरण परमानन्द प्रकाशी,
 नभ और धरणी आरति थाला, चन्द्र सूरज दोऊ दीप उजाला,
 अगर चन्दन सब धूप विराजे, भूला मेरु चवंर तरु राशी...आ०
 फूल वनस्पति है यह सारी, सातों सागर जल की भारी
 गगन अनहद बाजें बाजे, गाजें राग डरे यम पाशी...आ०
 चार प्रकार के अन्न गोपाला, सोई तेरो भोग रसाला
 लोक चतुर्दस मन्दिर तेरौ, घट-घट आसन स्वयं विकासी...आ०
 महा वाक्य वेदन के जो हैं, सो तेरो चरणामृत सो हैं
 गुरु पुजारी दे चरणामृत, पिये नारि नर बन्ध विनाशी...आ०



(पृष्ठ २३ का शेष)

हमको तुम्हारा ही आसरा, तुम हमारे ईश हो,
 जिह्वा में तेरा नाम हो, मनमें तेरा ही ध्यान हो
 यही हमें आशीश दो ।
 सर्वत्र हो, सर्वेश हो, सब जग के परमाधार हो,
 हरेक प्राणी के अन्दर, व्यापक तुम्हीं जगदीश हो ॥
 जैसा करम कोई कर रहा, वैसा ही उसका फल तू दे रहा ।
 तेरे घर में रिशवत नहीं, तुम तो कृष्णाधीश हो ॥
 ऐसी कृपा हम पर करो, अवगुण हमारे चित न धरो ।
 चरणों में तेरे पड़े रहे, इतना हमें अधिकार दो ॥

(२०)

प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान

जिज्ञासु के शब्दों का भावार्थ—

“सत्संग में जिज्ञासु के संशय और विचार प्रगट होने चाहिए, बिना संशय निवारण के ऐसा लगता है कि अदृढ़ नींव पर पुस्तक ज्ञान का भार लदा है। मनुष्य चाहे जाने बहुत कुछ परन्तु उसके प्रत्यक्ष अनुभव से वंचित रहता है। ऐसा देखने में आता है कि लोगों के धार्मिक विचार कोरे विचार ही पड़े रहते हैं। स्वयं अपने में ही यह दिखता है कि जिन शास्त्रोक्त बातों का वर्णन किया जाता है उनको आचरण में लाना कैसा कठिन लगता है” ।

संस्कार वश जिन व्यक्तियों की श्रद्धा प्रबल है, उनकी बात तो दूसरी है किन्तु साधारण पुरुष के लिए यह आवश्यक है, कि बुद्धि में समाए संशयों के निवारणार्थ प्राप्त लोगों का सत्संग करें। ज्यों-ज्यों संशय दूर होंगे, आत्म ज्ञानकी नींव दृढ़ होगी; नींव की निर्बलता बनी ही रहेगी जब तक परोक्ष ज्ञान द्वारा पड़े संशय रूपी छिद्रों को समाधान द्वारा भर कर उसको चहुँ ओर से दृढ़ न बना लिया जावे। परोक्ष ज्ञान की उपयोगिता नींव को दृढ़ बनाने के कार्य तक ही सीमित है। ऐसी नींव पर बने आचरण रूपी भवन का निर्माण अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, जो साधना से प्राप्त होता है। बिना साधना के अनुभव कहाँ और बिना अनुभव के अपरोक्ष ज्ञान कैसा ।

“पुस्तक ज्ञान का भार” संशय युक्त परोक्ष ज्ञान का ही दूसरा नाम है। इसका संग्रह ऐसा ही है जैसे अदृढ़ नींव पर केवल नींव के मसाले का ही जमा होना—उससे भवन निर्माण सम्भव नहीं। भवन रूपी अपरोक्ष ज्ञान के लिये साधना रूपी मसाला चाहिये। इसके बिना प्रत्यक्ष अनुभव का होना सम्भव नहीं।

अधिकांश मनुष्य साधना के परिश्रम से वचते हैं। कारण श्रद्धा की कमी से अनुराग उत्पन्न नहीं होता। बिना अनुराग के प्रत्येक कार्य, भार प्रतीत होता है। बुद्धि में पड़े संशय ध्येय वस्तु के गुणों पर परदा डाले रहते हैं, और इस प्रकार साधना में जो व्यवस्थित सुख और सुन्दरता है, उसे हर लेते हैं। अतः बुद्धि को जहाँ तक हो सके संशय रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

श्रद्धा उत्पन्न होने के उपरान्त मनुष्य को अपनी निर्वल इच्छा-शक्ति से निवटना होता है। शरीर वाणी और मन के सात्त्विक तपों द्वारा इस को बलवती बनाया जाय। इन (तपों) का विवेचन भगवान ने अध्याय १७ : १४ से १७ में किया है। इस प्रकार की साधना से जब अन्तःकरण में थोड़े बहुत वे गुण दीखने लगते हैं, जिनका भगवान ने अध्याय १३ : ७ - ११ में वर्णन किया है, तब आचरण में निर्मलता आती है, और अपरोक्ष रीति से उस शान्तिमय आनन्द का अनुभव होने लगता है, जिसके आकर्षण में पड़ा मनुष्य स्वयमेव उस अभ्यास में उन्नति करता है, जिसको वह पहले 'आचरण में लाना बड़ा कठिन' समझता था।

आपने बड़ी स्पष्टता एवं सरलता के साथ अपनी न्यूनता अनुभव की है। मनुष्य में ऐसी उर्ध्व चेतना तारक होती है। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर मार्ग ढूँढना स्वाभाविक है। मार्ग में गति न दीखने अथवा मन्द होने पर निराशा न होनी चाहिये। पूर्व संस्कारी से दवे मनुष्य के हाथ में इसके अतिरिक्त और है ही क्या कि वह श्रेष्ठ पुरुषों के बताए मार्ग का यथा शक्ति अनुसरण करे और साथ भगवान से प्रार्थना करता रहे कि उन्नति में अग्रसर होने का बल प्रदान करें। भगवान के दयालु और कृपालु स्वभाव पर अटल श्रद्धा होने से ही ऐसी प्रार्थना हार्दिक और सारयुक्त हो सकती है।

भगवान के गुणानुवाद से, और ध्यान, जप, तथा कीर्तन से अनुराग उत्पन्न होता है; अनुराग से प्रीति, प्रीति से भक्ति, भक्ति से समत्व, समत्व से सेवा, सेवा से त्याग, त्याग से अन्तःकरण की शुद्धि जिससे परम पद की प्राप्ति।

आपको पहले लिखे हुये कीर्तन के पद रुचिकर लगे। आपके लिखे अनुसार इस पत्र के साथ दो तीन और भेजे हैं।

हे जगत्राता, विश्व विधाता, हे सुख शान्ति निकेतन हे ।
 प्रेम के सिन्धु, दीन के बन्धु, दुःख दारिद्र्य विनाशन हे ।
 नित्य, अखण्ड, अनन्त, अनादि, पूरण ब्रह्म, सनातन हे ।
 जग-आश्रय, जग पति, जग बन्दन, अनुपम, अलख निरंजन हे ॥
 प्राण सखा, त्रिभुवन प्रति पालक, जीवन के अवलम्बन हे ॥

नहीं यह जीवन का उद्देश्य ।

भौतिकता के भाव अभाव में, मान न हर्ष न क्लेश ॥
 सुत, दारा, धन, द्रव्य, अटारी रहे न संग हमेश,
 है यह सब सराय के साथी, मत कर मोह विशेष ।
 कैसा शोक हर्ष यहां कैसा, कैसा राग और द्वेष,
 चेत पथिक, आगे बढ़, तेरा दूर अभी है देश ।
 जिसको तू जीवन समझा है, वह है कृत्रिम वेश,
 जिसको मानता है तू आयु, वह है एक निमेष ।

कन्यादान के सम्बन्ध में की हुई आगे की शंकाएं—

(देखिये पत्र नं० ८) पृष्ठ ३१-३२

“लेकिन सबके माता पिता का ऐसा ऊँचा भाव नहीं होता, और होता भी है तो क्षणिक”—किस रीति में क्या तत्व रहता है शास्त्र इसी पर ध्यान दिलाता है, फिर चाहे उस रीति की बिना समझे लीक भर पीट दी जाय या उसका तत्व समझ कर कर्म किया जावे, जिससे आन्तरिक लाभ प्राप्त हो । जो माता-पिता अज्ञान में ही पड़े रहना चाहें उनका कौन सहायक हो सकता है । सच्चे मन से त्याग किया जावे तो वृत्ति शुद्ध अवश्य होगी । भगवान ने कहा है कि यज्ञ, दान, और तप पावनकारी हैं (१८ : ५) । धर्म का आचरण क्षणिक भी व्यर्थ नहीं जाता, अपना शुभ संस्कार छोड़ता ही है ।

“लड़की की मनोवृत्ति पर तो आपने विचार नहीं किया, उसे हर

समय यही विचार खटकता रहेगा कि वह तो दान का केवल एक साधारण पदार्थ ही समझी गयी है”

क्षुद्र वस्तु का ही त्याग होता है ऐसी बात नहीं, और नरनारी अपने सर्वस्व का त्याग करके आहुति में शरीर तक दे देते हैं। कन्या का अपने सम्बन्ध में “हीनता का भाव बना रहना” उस के विचार का ही दोग माना जावेगा। विद्या विनय सम्पन्न कन्या प्रत्येक प्रकार से पति गृह का भूषण बनने की आशा रखेगी, योग्य सन्तान की जननी बनेगी, माता के पद की, जिसको संसार में सर्वश्रेष्ठ माना है, अधिकारिणी होगी। विना स्त्री के संसार चक्र नहीं चल सकता, अतः नारी क्षुद्र पदार्थ नहीं, रत्न है।

“फिर कितना बड़ा भय लगा रहता है, लड़की सुखी रहे न रहे।”

योग्य माता-पिता अपनी योग्य पुत्री को योग्य पति को ही समर्पण करने की चेष्टा करते हैं, आगे उसका भाग्य है, कर्म लिखा कौन मेंट सकता है।

“दान दी हुई वस्तु को लेने वाला उसी प्रकार वरत सकता है।”

रत्न के मूल्य को कौन घटा सकता है; मूढ़ ही ऐसा करेगा। दान से मूल्य की मात्रा नहीं घटती। योग्य पात्र को वह शुभकारी व श्रेयष्कर ही होगा; उसका अभाव पूरक बनेगा।

“भेंट की हुई वस्तु की ओर भावना कुछ और ही होती है।”

पाने वाले की दृष्टि में वस्तु की उपयोगिता पर उसका मूल्य आघारित रहता है, चाहे वह भेंट की हुई हो अथवा दान की हुई। भेंट के देने लेने वाले परस्पर के समान व्यवहार में कामना का स्थान रहता है, त्याग में स्वार्थ को समष्टिहित में लय करना।

“दान की वस्तु में देने वाले का गौरव है, पाने वाले का नहीं।”

देने वाले का गौरव एवं पाने वाले की कृतज्ञता। दोनों ओर की वृत्ति समान कल्याणकारी। सात्विक दान में पात्र की योग्यता का विचार

मुख्य है। कृतज्ञता का गौरव दान के गौरव से कम नहीं, शुभ लक्षणों में ऊँच-नीच का पद नहीं माना जाता, अपने-अपने स्थान पर समान श्रयस्कर रहते हैं।

“क्या आप सहमत हैं”—दृष्टिकोण के हेर फेर से ही एक वस्तु का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखता है। सात्विक दृष्टि से कन्या का दान दाता और पात्र दोनों के लिये मंगलकारी है; विपरीत स्थिति में जो तुमने लिखा वह असत्य नहीं।

“आपने कन्यादान को एक पक्ष से देखा।”

तुम्हारे तर्क पर अपने विचार आगे लिख दिये। तुमसे पहले यह तक किसी ने किया नहीं था। गाय भैंस’ शब्दों के प्रयोग से स्वाभिमान पर ठेस ही लगी उस समय दीखी थी। तर्कवादी के ध्यान में ‘दान’ शब्द ने कन्या और गाय भैंस में समानता उत्पन्न कर दी थी, जिससे उसको मान हानि के कारण ग्लानि हुई। उस समय इतना ही विचार आया था।

भारतवर्ष के पति-पत्नी सम्बन्ध का आदर्श आगे पंक्तियों में व्यक्त है।

पति विहीन नारी का जीवन, जग में निरा असार।

पति के संग वही जीवन, फिर अमृत की सी धार ॥

नारी के संग एक प्राण, हो रहता है भरतार।

अटल एक्य बंधन यह होता, कहते शास्त्र पुकार ॥

पति संग परलोक गमन, को रहे नारी तैयार।

सच्ची पतिव्रता पाती, है ऐसे ही उद्धार ॥

पर आजकल की भावना तो जैसी है वैसी ही है, फिर भी आदर्श सामने रखना चाहिये।



[इसके आगे का पद पुस्तक के अन्त में देखिए]

(२१)

भविष्यत् वाणी पर विश्वास-अविश्वास

(लेख नं० ६ पृष्ठ ३३ देखें)

“आपको भविष्यत् वाणी में कितनी श्रद्धा है। जब आप प्रारब्ध को इतनी महत्ता देते हैं तो इस विषय में क्या विचार है।”

भगवान की माया अनन्त है, प्रत्येक विद्या विभाग में सूक्ष्म बुद्धि वाले श्रेष्ठ पुरुषों के अनुसंधान ज्यों-ज्यों होते जाते हैं, यह विदित होता रहता है कि इनसे पूर्व का ज्ञान, जो भूत काल में संतोषजनक समझा जाता था, वास्तव में अपूर्ण ही था। पृथक्-पृथक् विज्ञान, जैसे चिकित्सा, फिजिक्स, केमिस्ट्री, बोटेनी, बायोलोजी इत्यादि के अनुसन्धान उपरोक्त वाक्य की सत्यता प्रकट करते हैं। चाहे वर्तमान काल में उनको कितना ही पूर्ण मान लिया जावे, परन्तु परमेश्वर के रहस्य, जो विश्व में अनन्त सूक्ष्म नियमों से ओतप्रोत और परिपूर्ण हैं—उनकी अनन्तता के कारण मानव कभी इस बात का दावा नहीं कर सकता, कि संसार की अमुक विद्या में वह पूर्णता प्राप्त कर चुका। विपरीत इसके, ज्ञान शिखर पर पहुँचे मनुष्यों की दृष्टि इतनी विशाल हो जाती है, कि वे प्रकृति की अदृश्य और अज्ञात शक्तियों के काल्पनिक विचार द्वारा उनकी अनन्तता से प्रभावित होकर अपनी अल्पज्ञता में कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति के गोपनीय रहस्यों को सिन्धु में बिन्दु के बराबर भी नहीं जानता। नम्रता और भक्तिभाव से उनका मस्तक झुक जाता है। वैज्ञानिक जे० जे० टोम्सन (जिनको उनकी सफलताओं पर लार्ड केल्विन की पदवी दी जा रही थी) को अनेक बधाइयों के अवसर पर उत्तर में यही कहते बना, कि आप लोग मुझे इतना सम्मान दे रहे हैं, किन्तु मैं इस समय इस विचार से और भी दबा जा रहा हूँ, कि सिन्धु में बिन्दु के समान भी तो अभी हमारा विज्ञान नहीं पहुँच पाया है।

ऐसी अवस्था में शंका होती है, कि भविष्यत् वाणियाँ, जिनको पूर्णातिपूर्ण ज्योतिषियों द्वारा उनकी सम्मिलित तथा अभिन्न गणना के आधार पर की हुई भी यदि मान लिया जावे, तो भी वे कहाँ तक अटल सत्य के रूप में भविष्य में प्रतीत होवेंगी ही ।

पहले तो ऐसे पूर्ण ज्योतिषी ही कहाँ—फिर उनकी गणना में भिन्नता । ऐसी स्थिति में विवेकी मनुष्य के विश्वास का जमना कठिन होता है ।

फिर भी इस विद्या के प्रयोगियों की अपूर्णता मध्य, कही भविष्यत् वाणी को प्रायः सत्य उतरते देख यह मानना पड़ता है, कि यह उपयोगी अवश्य है, यद्यपि एक सीमा तक ही । सूर्य चन्द्रादि ग्रहण, वर्षा, अकाल, महामारी, युद्धादि, इनके विषय में विशेष सत्यता प्रतीत होती रहती है ।

इन कारणों से मनुष्य का यही निश्चय होता है, कि देखें भगवान को क्या स्वीकार है । न तो उन वाणियों को पूर्णतया सत्य मानने को विवेक सहारा देता है और न यही कि यह सब व्यर्थ है ।

व्यर्थ इस अभिप्राय से तो है ही—व्यर्थ हो नहीं हानिकारक भी—कि वे मानव हृदय में अशुभ भय का संचार कर देती हैं । प्रत्येक वस्तु के शुभ एवं उन्नतिवर्धक उपयोग का सदा शुभ ही परिणाम होता है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष को उससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए, परन्तु उसके हानिकारक प्रयोग से बचने में ही कल्याण रहता है ।

“कर्म प्रधान विश्व रच राखा”—इस अटल नियम से कोई व्यक्ति, समाज, देश बच नहीं सकता । जब इस नियम के अटल विश्वासियों को अशुभ परिणाम भुगतना ही है, तो भयभीत होकर दशा को और बिगाड़ने की अपेक्षा उनको ईश्वर दत्त दण्ड रूप समझ कर पुरुषार्थ साहस एवं धैर्य पूर्वक भोगने के लिए भक्ति प्राप्ति हेतु भगवान से प्रार्थी रहना चाहिए । इस प्रकार मनुष्य संकट जनित व्याकुलता की विषमता से अधिकांशतः बचा रहता है और उसका बेड़ा पार हो जाता है ।

गोता १८ ६१ में कहा है कि शरीर रूपी मंच पर चढ़े हुए प्राणियों को उनके कर्मानुसार उपयुक्त योनियों में भ्रमण कराता हुआ ईश्वर

सबके हृदय में स्थित है—उसीकी शरण में मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में जाना चाहिए, उसीकी कृपा से शांति मिल सकती है, और संकटों की दुःख रूपता दूर होती है।

इसी प्रकार का प्रश्न तुम्हारा एक बार पहले भी हुआ है, जिसके उत्तर में लेख नम्बर ६ (“करमगति टारे नाहि टरे। गहना कर्मणोगतिः” शीर्षक में) लिखा है—यह उत्तर भी न्यूनाधिक उस पत्र जैसा ही है—यद्यपि दूसरे शब्दों में।

भक्त की पुकार—

(कल्याण)—जगधारी ! तेहारौ गति न्यारी, बलिहारी।

रखवारे भक्तन के, हम सबके हितकारी ॥

भजन करो भगवान का, सब संकट कट जाये।

प्यारी मूरत हृदय रख, भवसागर तर जाये ॥

तूही सबका पालन हारा, तूही सबका है रखवारा।

व्यापक सब में, सबसे न्यारा ॥

प्रभु जी मैं अबोध अज्ञानी।

मैं अल्पज्ञ ज्ञान अति थोड़ी, तुम सर्वज्ञ सुजानी ॥

धर्म कर्म कछु बन नहीं आयो, पाप किए मनमानी ॥

तन मन माँहि विकार भरे हैं, बुद्धि भई वीरानी ॥

कंचन काय विषय विष व्यापो, आतम साध भुलानी ॥

माया में रत रहत निरत हूँ, तुम्हारी डगर न जानी ॥

क्षमा माँगते मन सकुचावत, लाज 'विदेह' लजानी ॥

कर्म के प्रशस्तत्व में भावना की तात्त्विकता

गीता १४।२१ में अर्जुन द्वारा प्रश्न कि गुणातीत पुरुष का आचरण कैसा होता है, के उत्तर में, भगवान ने २२ से २५ तक चार श्लोकों में जो कुछ कहा है, वह प्रधानतया सिद्ध पुरुष की आन्तरिक भावना के ही सम्बन्ध में है। उसके कर्मों के बाह्य स्वरूप का विवेचन उनमें नहीं है। इसी प्रकार अध्याय २।५४ में अर्जुन के प्रश्न पर कि “स्थित धीः किं प्रभाषेत” ५६, ५७ में उसके अन्तःकरण की दृढ़ स्थिति का ही वर्णन किया है, वाणी द्वारा वह क्या बोलता है इसकी समालोचना करना आवश्यक ही नहीं समझा। १२।१३ से १६ तक में जो भक्तिमान पुरुषों के विविध लक्षण कहे हैं, उनमें भी मुख्यतः भावना का ही प्रसार है। मनुष्य की वाणी तो भावना की दासी है। अशुद्ध, मलिन तथा शुद्ध हृदय के अनुकूल ही वाणी का प्रयोग अनायास होता रहता है, यद्यपि एक धूर्त और शठ दम्भ द्वारा जैसी रचना करना चाहे उसी में सफल हो जाता है, और भोले भाले ही नहीं बरन अच्छे चतुर मनुष्य को भी ठग लेता है।

लोक संग्रह के निमित्त सेवा कार्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों ही जब तक कर्ता में उच्चकोटि के न हों, जनता पर, आचरण शोधन में, अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। उपदेश देते समय स्वर प्रवाह में भूले से भी यदि किसी अयुक्त शब्द का प्रयोग हो जावे, तो वह विद्वान् श्रोताओं में अप्रसन्नता का भाव उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। अतः कथा वाचक तथा शास्त्र ज्ञानोपदेशक को वाणी से संयम पर दृष्टि रखना अत्यावश्यक है। वाक् प्रवाह जैसे गुण युक्त अभ्यास के होने पर भी अचेतनता वक्ता को गिराये बिना नहीं रहती, इसलिए प्रवाह के साथ चेतनता में न्यूनता न आवे ऐसे अभ्यास की ओर भी ध्यान देना उचित है।

पुस्तक ज्ञान के अनुसार आचरण ही मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क को धीरे-धीरे अशुद्धि से शुद्धि की ओर फेरता है। वक्ता के आचरण की

एक भी स्पष्ट निर्बलता सारे बखाने हुए विशद ज्ञान की प्रभावकारी शक्ति को क्षण में हर लेती है। अहमता और ममता साधारण मनुष्य की स्वाभाविक दोषयुक्त वृत्तियाँ हैं। साधक को संचित परोक्ष ज्ञान द्वारा इनसे सदैव सचेत रहना चाहिए, अहंकार युक्त शब्दों की पुनरोक्ति से प्रत्येक अवसर पर उनकी जड़ जमाना उचित नहीं। कर्तृत्व अभिमान रहित निष्काम लोकसेवा ही दोनों ओर के कल्याण का हेतु बनती है। इन दोनों गुणों में से एक का भी अभाव सेवा की सार्थकता को निरूपयोगी सा बना देता है। अहंकार का बुरा परिणाम तो ऐसा विदित रहता है, जैसे “खीर खाण्ड का थाल परोसा ऊपर से दिया थूक” जिसको चार दिन का भूखा भी कभी न खाए।

प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा देहाभिमानी में अस्वाभाविक नहीं, अपितु एक प्रकार से अच्छा ही लक्षण कहा जावेगा, क्योंकि वह जीव को उन्नति के मार्ग में साधना की ओर उत्साहित करता है, परन्तु उसकी प्राप्ति की विधि सात्विक होनी चाहिए, नहीं तो राजसी होने से वह भी बन्धन तथा अवनति का कारण बन जाती है। योग्य साधक को उपदेश है—“मतकर मोह फिर भी,

अगर तू मर्तवा चाहे, मिटादे अपनी हस्ती को,
कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलज़ार होता है।
जो इसको बरतता है वह देखे इसकी शक्ति को। कहा है,
खुदी दिल से उठा दे तो खुदा तू ही हो जावे।

अन्तिय शरीर के अभिमानी को ही यह अज्ञान घेरता है, कि ‘मैं कर्त्ता हूँ’। मनुष्य में शक्ति का पारावार नहीं, परन्तु वह सब दी हुई भगवान की ही है। एक से एक बढ़ कर व्यक्ति, महापुरुषों के रूप में ईश्वर की विशेष विभूतियों का स्वरूप धारण किए संसार में विचरते हैं। कर्तृत्व अभिमान हो जाने पर ऐसी अनुभूतियों एवं उनके विधाता का स्मरण विवेकी के अहंकार को तुरंत नष्ट कर देगा।

यह सत्य है, कि किसी प्रकार की असाधारण शक्ति का थोड़ा भी अंश पूर्व संस्काराश्रित ही जीव को मिलता है, परन्तु वह भी भगवान की दया से। नहर में पानी है तो स्रोतसागर के प्रताप से, उसका पानी से भरे होने का गर्व व्यर्थ ही है। अमानित्व का अर्थात् अपने में किसी प्रकार की

श्रेष्ठता की चेतना के अभाव को आत्मोन्नति के मार्ग में वताए बीस गुणों में से भगवान ने पहला कहा है (१३ : ७) । मान बढ़ाई का छिपा स्वार्थ भी त्यागे बिना जीव उठ नहीं सकता

खाक आपको समझना, अक्सीर है तो यह है ।

इखलाक सबसे रखना, तशखीस है तो यह है ।

‘आचार्योपासनम्’ को भी उन बीस गुणों में स्थान दिया है । इस संज्ञा में छोटे बड़े सब श्रेणी के उपदेशकों को समझकर, श्रोताओं को सुने हुए प्रवचनों का सार उदार हृदय से ग्रहण करना चाहिये, चाहे इनमें उनके व्यक्तिगत दोष दिखते हों । मधुमक्खी नीम की पत्ती पर बैठकर उसी अंश को लेती है, जिससे मधु बने, शेष त्याग देती है । भगवान ने कहा है कि देहधारी से कोई कर्म इस प्रकार बनना संभव ही नहीं, जो किसी न किसी दोष से युक्त न हो । प्रत्येक कर्म इस से ऐसे ढका रहता है, जैसे धुएँ से अग्नि (१८ : ४८) । उन्नतिशील पुरुष के लिये इस वृत्ति का अभ्यास लाभदायक है ।

१७ : १४ में आगे भी ‘प्राज्ञ पूजन’ को भगवान ने शारीरिक तप कहा है अर्थात् अपने से किसी प्रसंग में भी जो श्रेष्ठ दीखे उसका उचित मान सत्कार करना, चाहे अन्य बातों में उसमें कोई दोष भी क्यों न दीखे । ऐसा तप मननशील पुरुषों के लिए पावनकारी होगा । उदारता वह गुण है, जिससे युक्त मनुष्य शैतान को भी उसका सत्व (उचित श्रेय वाजिब हक) देने से नहीं सकता ।

गीता में भगवान द्वारा ‘अहम्, ‘मम, माम्’ शब्दों का स्थान-स्थान पर प्रयोग देखकर, तथा अन्त में १८ : ६६ में यह सारभूत निश्चय वचन पाकर ‘मामेकं शरणं ब्रज’ कोई देहाभिमानी पुरुष, अपने अपरिपक्व विचार में, कदाचित् ऐसी मिथ्या धारणा बना ले कि शास्त्र के प्रकाशन तथा प्रचार कार्य में, सत्यवाणी के प्रयोग के साथ, मनुष्य को अधिकार है, कि वह स्वसम्बन्धी उच्च पदक शब्द बोले, जिससे श्रोताओं में उसकी प्रतिष्ठा एवं तदनुकूल श्रद्धा और बढ़े, तो यह उसकी मूर्खता ही कही जावेगी;— शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, भाव में स्थित अधिकारी कृष्ण भगवान के ये सब वचन हैं । मूर्ख अपनी मूर्खता त्याग पहले इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन में

लगे, सिद्धि प्राप्त करे, तब उस अधिकार का ध्यान करें। गौडसे ने महात्मा गांधी पर गोली चलाने के पूर्व गीता १८ : १७ (उत्तरार्ध) पर मूर्खता तथा वर्वरतावश मिथ्या अवलम्बन करके महा कुकर्म कर डाला, 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' (पूर्वार्ध) पर अन्धकार और अज्ञान में पड़ी हुई उसकी बुद्धि जम ही न सकी; इसीलिए गीता ज्ञान अनधिकारी ने लिए निषेध कहा है।



राग काफो

राम नाम रस पीजै, मनुआ राम नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुन लीजै ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, बहा चित्त से दीजै ।
भीरा के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रंग में भीजै ॥

(पृष्ठ २३ का अन्तिम पद)

हमको तुम्हारा ही आसरा, तुम हमारे ईश हो ।
जिह्वा पे तेरा नाम हो, मनमें तेरा ही ध्यान हो; यही हमें आशीश दो ।
सर्वत्र हो, सर्वेश हो, सब जग के परमाधार हो, हरेक प्राणी में
बसे, व्यापक तुम्हीं जगदीश हो ॥
जैसा करम कोई कर रहा, वैसा ही फल तू दे रहा,
तेरे घर रिशबत नहीं, तुम तो करुणाधीश हो ॥
ऐसी कृपा हम पर करो, अवगुण हमारे चित्त न धरो,
चरणों में तेरे पड़े रहें, इतना हमें अधिकार दो ॥

अशिष्ट व्यवहार के प्रति शिष्ट व्यवहार- न कि जैसे के साथ तैसा ।

साम्य भाव में स्थित सिद्ध पुरुष की बात तो जाने दी जावे, क्यों कि वह तो 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः' (१२ : १८) 'तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्म संस्तुतिः' (१४ : २४) 'मानापमानयो तुल्यः, (१४ : २५)—इन लक्षणों से सदा सुसज्जित रहता है, इस-लिए उसके विषय में यह यथार्थ ही है कि 'लोकान्नोविदजते चयः' (१२ : १५) परन्तु साधारण मनुष्य को दूसरे के अशिष्ट व्यवहार पर उद्वेग उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। विवेकी को उद्वेग वश होने से वचना चाहिये। 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः' (२ : ६३) क्रोध आने पर उत्तेजना के कारण बुद्धि पर परदा पड़ जाता है और वह स्थिति को संभालने के अयोग्य हो जाती है। स्थिति को संभालने का अर्थ क्या है यह समझना चाहिये। ठण्डा लोहा गरम को काटने की क्षमता रखता है। जब दो व्यक्तियों में उलझन उत्पन्न हो जाती है तो प्रत्येक की यह दुरिच्छा होती है कि दूसरे पर बल व बुद्धि द्वारा किसी प्रकार वह विजय प्राप्त करे। दोनों ओर मूर्खता की प्रधानता होने पर तो दोनों ही इस उद्देश्य में असफल रहते हैं और ऐसी स्थिति का अन्त किसी काण्ड में ही होता है, परन्तु यदि एक का भी संयम की ओर झुकाव हो, तो वह अपने क्रोध को दाव कर अभयता के साथ ऐसे शब्द बोलने के प्रयत्न में लगता है, जो वास्तविक हों, परन्तु जिनमें अपने मन का द्वेष रूपी विकार न मिला हो। भय में आकर समय को टालने हेतु अपनी समझ में आई हुई सत्यता से दूर हो जाना तो अन्तःकरण में कायरता का दोष उत्पन्न करेगा इसलिए उसका (सत्य का) आश्रय कदापि न छोड़े; वास्तव में वही ऐसी उलझन की स्थिति में आत्मिक बल प्रदान करता है।

कटुता का कटुता से प्रत्युत्तर 'टिट फॉर टेट' कहलाता है। यह वृत्ति त्याज्य है।

महात्मा सुकरात की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। प्रत्येक क्षण उनको बड़े कटु शब्द सुनाती रहती थी, परन्तु वे तो बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान पुरुष थे। अधिकतर तो मौन ही बने रहते थे, यदि कभी उत्तर दिया भी तो वह शान्तमय होता था। एक दिन पत्नी भभकती चली गई पर वे चुप ही रहे; इस पर उसका क्रोध इतना बढ़ गया, कि वह एक वर्तन में मैला पानी भरकर ले आई और उनके ऊपर उड़ेल दिया। सुकरात इस पर मुस्कुराते हुये बोल उठे, कि "मैं तो अब तक इस धारणा में था कि जो गरजते हैं वह कभी बरसते नहीं परन्तु आज तुमने मेरी इस धारणा को असत्य प्रमाणित कर दिखाया-धन्यवाद।" इन शब्दों को सुनकर, जिनमें शांत-भाव, निर्भीकता, अद्वेष, और सत्यता का पूर्ण मिश्रण था, पत्नी के हृदय में एकाएक जागृति उत्पन्न हो गई, और वह उनके चरणों पर गिर कर क्षमा की याचना करने लगी। इसी विधि से धीरे-धीरे उसका उद्धार होता रहा और अन्त में वह एक आदर्श पत्नी बन गई।

इस ज्वलन्त उदाहरण से विवेकी मननशील पुरुष को शिक्षा मिलती है, कि ग्रन्थि की प्रत्येक दशा में यदि वह अपने क्रोध के वेग को संभाले रहे, तो स्थिति को सुलभाने की तीव्र जिज्ञासा के कारण उसकी बुद्धि में ऐसा प्रकाश आवेगा, जो उसकी वाणी और क्रोधानिजन्म रूपरेखा पर रोक लगाने में सहायक होगा, और फिर उससे 'टिट फॉर टेट' हो ही न सकेगा।

शिष्टता की गति सदा सुलभन तथा शान्ति की ओर रहती है, इसके विपरीत 'टिट फॉर टेट' में दोनों ओर के अविवेकियों की तामसिक वृत्तियों के बढ़ते-बढ़ते घोर उपद्रव तथा अनर्थ की ओर।

उद्वेग जनक शब्दों के कान में पड़ने पर अपने अशान्त मन को धीरज देने के निमित्त, जिससे क्रोध उभरे नहीं, दबा रहे, एक मननशील पुरुष ने इस प्रकार विचार किया कि :—

'क्या मैं अपने जीवन को दुःखी बना लूं इस कारण से, कि एक

जंगली व्याघ्र अशिष्ट गुराने वाला पशु होता है; नहीं ऐसा नहीं होना चाहिये। एक संभ्रांत कुल का सुजन्मा और बुद्धिमान पुरुष कभी किसी का अपमान नहीं करेगा और दूसरा कोई कर ही नहीं सकता, अर्थात् करे भी तो विवेकी को उसकी ग्लानि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वह तो मानुष रूप में पशु बना हुआ है ही।

ऐसी धारणा बनाने से 'टिट फॉर टेट' के प्रयोग की वृत्ति से व्यक्ति बचा रहेगा, और हृदय में ऐसे शांत और उचित विचार उठेंगे, जिनसे दोनों पक्षों की स्थिति सुधरने लगेगी।

उत्तेजना द्वारा मन के चलायमान होने से अन्तःकरण में पड़े विकार अधिक बल पकड़ने लगते हैं, जिससे विपक्षी के साधारण शब्दों में भी रस्सी में सर्प का सा आभास होने लगता है। इस दोष का भी ध्यान रख कर भी विवेकी को उत्तेजना की प्रगति में 'टिट फॉर टेट' की अपेक्षा शिष्टता को ही अपनाना चाहिये—विपक्षी की ओर से सालों (वर्षों) शब्द के प्रयोग को अपनी बुद्धिहीनता से गाली का भ्रम कर बैठना अथवा आराम 'खोर' के 'आ' के स्थान पर 'ह' कहा हुआ समझ कर लड़ने लगना—उत्तेजना की दशा में इस प्रकार के स्वाभाविक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः मनुष्य शिष्टता के लिये ही बुद्धि संभाले रखे, और 'टिट फॉर टेट' के प्रलोभन में न पड़े।



(माल कोस)

हे हरि सुखद सदा हो मेरे ॥

अविनाशी जग के पिता,

आओ प्रभु मम मुग्ध हृदय में,

शान्त करो मन को मेरे ॥

असहाय विद्यार्थियों की आर्थिक समस्या पर गीता माता का उत्तर ।

“असहाय विद्यार्थियों को किस प्रकार सहायता दी जावे ।” यह एक सामान्य प्रश्न है । भावी पीढ़ी की यथार्थ शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना जिनका कर्तव्य है, उनके द्वारा यह अवश्य होनी चाहिये । पढ़ने लिखने की योग्यता रखने वाले नवयुवकों को भूख से पीड़ित होते हुये देखना अब असह्य होता जा रहा है । क्या इस समस्या का हल आप गीतामाता की गोद से प्राप्त कर सकते हैं । यदि कर सकते हैं तो कृपया करें ।”

यह समस्या उस युग की है, जबकि देश विदेशियों के अधिकार में था । यद्यपि उस समय भी ऐसी संस्थायें वर्तमान थीं । जो आर्थिक सहायता ऐसे निराश्रित विद्यार्थियों को पहुँचाने में तत्पर रहती थीं, जिनकी बुद्धि, परिश्रम तथा सामर्थ्य से यह आशा की जाती थी, कि वे उससे अवश्य लाभ उठावेंगे । परन्तु देश की दरिद्रता तथा जनसंख्या के अनुपात से उनकी बहुत कमी थी, जिस कारण अनेक होनहार बालक तथा युवक, साधन के अभाव में, उच्च कोटि की शिक्षा के वंचित रह जाते थे । स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् इधर स्थिति में बहुत उन्नति हुई है । राज्य की ओर से दिन-दिन यह व्यवस्था बढ़ती जाती है, कि प्रारम्भिक शिक्षा बालकों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क हो, और आगे चल कर युवक जिस क्षेत्र के लिए अपनी योग्यता प्रकट करें, उसी में उसके लिये प्रबन्ध हो । देश के अतिरिक्त इस समय विदेश से भी परस्पर के संयोग से ऐसी छात्र-वृत्तियाँ युवकों को मिल रही हैं ।

नये-नये टेक्नोलॉजिकल विद्यालयों की स्थापना द्वारा प्रत्येक प्रकार की शिक्षा का विस्तार पहले की अपेक्षा दिन-दिन बढ़ रहा

है। देश में सब ओर उन्नति की प्रगति में योग्य कार्यकर्त्ताओं की ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ रही है, त्यों-त्यों सरकार की ओर से ऐसे विद्यालय खुल रहे हैं और योग्य असहाय युवकों को आर्थिक सहायता का प्रबन्ध हो रहा है। गणतंत्र में यह सब बातें परतंत्रता की अपेक्षा अधिक सुलभ हैं।

सरकार के अतिरिक्त देश के समर्थ और धनवान पुरुष भी अपना कर्त्तव्य समझकर होनहार छात्रों के सहायक बन रहे हैं। रुड़की महाविद्यालय में एक कोष खुला है, जिसके द्वारा उन छात्रों को नियम बद्ध आर्थिक सहायता दी जाती है, जो उन नियमों को मानने के लिए तैयार हैं। शिक्षा के पश्चात् आर्थिक दशा में वृद्धि होने पर, उनको सहायता रूप में कोष से लिया धन वापस देने के साथ, अपने जैसे संकट ग्रस्त विद्यार्थियों का सहायक भी बनना होता है, उन्हीं नियमों के आधीन जिनको मान कर उन्होंने स्वयं सफलता प्राप्त की। इस प्रकार इस क्रम का विस्तार बढ़ेगा। दान के सम्बन्ध में गीता माता का ऐसा ही उपदेश है। दान देना ही कर्त्तव्य है ऐसी भावनासे देश, काल, और पात्र के प्राप्त होने पर जो दान प्रत्युपकार में अशक्त व्यक्तियों को दिया जाना है, वह दान सब श्रेष्ठ है, सात्विक है। और जो प्रत्युपकार के प्रयोजनों से अर्थात् बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा में अथवा फल के उद्देश्य से दिया जाता है, वह राजस है। ऐसे दान से अन्तःकरण की शुद्धि में, कामना के कारण, रोक लगती है।

गणतंत्र में राष्ट्रपति, परमेश्वर के समान, सब प्रजा का धाता (सर्वस्व धाता) धारण पोषण तथा पालन करने वाला हो, किसी की दुर्दशा न देख सकने वाला और अज्ञान का नाश करने वाला, ज्ञान का प्रसारक (तमसः परः) होना चाहिए। सब की उन्नति का बीज, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वी लोगों का तेज, बलवानों का बल—यह सब कुछ राजसत्ता पर निर्भर है। प्रजाजनों की उन्नति अथवा अवनति राजशक्ति पर ही निर्भर रहती है। यह अनुकूल हो तो प्रजा उन्नति करती है और इसके प्रतिकूल होने पर अवनति होती है। राष्ट्र में दुःखियों के कष्ट दूर करके सबको सुख पहुँचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

इस प्रकार जितना राज्य सत्ता तथा सामर्थ्य पुरुषों द्वारा लौकिक और धार्मिक विद्याओं का साथ-साथ प्रचार होगा, उतनी ही प्रत्येक प्रकार

की उन्नति का मार्ग बनेगा । इस विचार को भली भाँति ग्रहण करके सामर्थ्यवान् पुरुषों को भी अपना कर्तव्य समझ कर, विद्यादान रूपी यज्ञ में यथा शक्ति आहुति देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।

माता का उपदेश है, कि यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म करना निस्सन्देह मनुष्य का कर्तव्य है, क्योंकि यह तीनों ही बुद्धिमान पुरुष को, जो फल और आसक्ति त्याग कर केवल भगवदर्थ कर्म करता है, पवित्र करने वाले हैं, इसलिए इनकी ओर से मनुष्य कभी, अचेत न रहे । इनको तथा और सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्मों को, उनमें आसक्ति और फल का त्याग कर, परम श्रद्धा पूर्वक परमात्मा के नाम का उच्चारण करते हुये, अवश्य करना चाहिये इस भावना से, कि यह सब कुछ उस एक परमेश्वर ही का है, इनको करना मानव धर्म है । धर्म युक्त कर्म की पूर्णता के लिए प्रयत्न और परमेश्वर दोनों के योग की आवश्यकता है । परमेश्वर चिन्तन करते हुये, ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक किया प्रयत्न सदा सफल होता है । उसकी ही प्रेरणा से सब कुछ होता है, मनुष्य तो निमित्त मात्र है । ऐसा सद्भाव रख कर कर्मों का फल सर्वोपरि परमेश्वर को अर्पण करना चाहिये । यही कल्याण मार्ग है ।

१७ वें अध्याय के अन्त में कहा है, कि इस प्रकार की श्रद्धा बिना दिया दान, अथवा और जो कुछ भी किया शुभ कर्म है, वह न तो इस लोक में लाभदायक होता है, और न मृत्यु के पश्चात् ही । इसलिये मनुष्य को चाहिये, कि परमेश्वर के नाम का निरन्तर स्मरण करते, निष्काम भाव से, केवल परमेश्वर के लिए शास्त्र विधि से नियत किये दानादि कर्मों को परम श्रद्धा और उत्साह सहित करे ।

माता का, यह उपदेश है कि,

भूखे को अन्न और प्यासे को पानी ।
नंगे को वस्त्र देओ तुम दानी ।

[शेष पद पुस्तक के अन्त में देखिये]

(२५)

भगवान की अपार और अन्नत माया के चिन्तन में उनकी किसी लीला को असम्भव मानना

युक्ति-युक्त नहीं है, तथा एक और भ्रम निवारण ।

“नाथ नील नल कपि दोउ भाई,
लरिकाई ऋषि आशिष पाई ।
तिनके परसि किये गिरि भारे,
तरिहै जलधि प्रताप तुम्हारे ॥”

“इस रहस्य को विज्ञान कैसे सुलभाता है । पत्थर पानी में कैसे तैर सकते हैं ?”

उत्तर में—संसार में मनुष्य के चारों ओर रहस्य फैले हुये हैं । पहले मनुष्यों की ही कृतियों की ओर दृष्टि डाली जाये ।

१—एक व्यक्ति पृथ्वी पर सीधा लेटता है । कुछ क्रिया करने के पश्चात् एक इंच तख्ते के समान ऊपर उठता है, फिर दो इंच यहाँ तक कि कि एक फुट ।

२—एक माता अपने तीन वर्ष के बच्चे को, एक दस टन वाले ट्रक के पहिये के नीचे दबा हुआ देख कर, व्याकुलतावश दौड़ती है, और अपने निरीह हाथों से बलपूर्वक पहिये को इतना उठा लेती है, कि बच्चा खँच लिया जा सके । इस क्रिया में उसकी रीढ़ की हड्डी चटक गई ।

३—लाउड स्पीकर में से एक ध्वनि निकलती है, जिसके कारण

एक बड़े भवन में बैठे हुये सैकड़ों नर-नारी ऐसे निद्रा ग्रसित हो जाते हैं, जैसे किसी ने जादू कर दिया हो ।

४—एक नवयुवक की आँखें खूब भली भाँति ढक दी जाती हैं, जिससे कि वह किसी प्रकार न देख सके । उसके पश्चात वह एक ऐसे मार्ग में जहाँ बहुत चहल-पहल है, साइकिल पर कुशलतापूर्वक दौड़ लगाता है ।

५, ६—एक नेत्रहीन नारी अपनी उँगलियों के सिरों से रंगों को पहचान लेती है । एक लड़की दीवारों के परे की वस्तुओं को देख लेती है और अखबार को आँखें बन्द करके पढ़ लेती है ।

ऐसे आजकल अनेक रहस्य देखने में आते हैं, और ज्यों-ज्यों इनमें से किसी-किसी की सुलभन होती है, नये-नये दृष्टि गोचर होते रहते हैं ।

अब थोड़ी प्रकृति के रहस्यों की ओर दृष्टि डाली जावे—

१—प्रत्येक वनस्पति के बीज में उसके फल फूल का आकार, रंग, रूप कैसी अचक रीति से समाया रहता है, कि उस बीज से उसी पदार्थ की उत्पत्ति होगी, जिसका वह बीज है और फिर एक से अनेक ।

२—गुरुत्वाकर्षण बल पृथ्वी में कैसे समाया हुआ है ।

३—जल को अग्नि पर चढ़ाने से क्या परिवर्तन हो जाता है, जो उसे ठंडे से गर्म बना देता है ।

४—शीशे में सूर्य की किरणें क्यों उसी प्रकार रुकी नहीं रह जातीं, जैसे एक पतले से पतले काठ के तख्ते में ।

५—मानवों, पशु, पक्षियों में, माता-पिता से इतनी समानता कैसे गढ़ दी जाती है ।

६—नाक, कान, आँख, माथा, गला, गर्दन एक से अवयव होते हुये भी संसार में दो जीव एक दूसरे से भिन्न । यह सब कैसी अद्भुत महिमा के उदाहरण हैं, जिनका उत्तर मनुष्य की बुद्धि नहीं पा सकती ।

इन सबसे यही परिणाम निकलता है कि अनेक रहस्य चारों ओर ऐसे फैले हुये हैं कि उनकी ओर निहारने से ऐसा विचार स्वयं विलीन हो जाता है कि अमुक बात असम्भव है। श्रद्धा का विस्तार इतना बढ़ जाता है कि उसमें अनेक रहस्य समा जाते हैं और सब शंकायें भस्म हो जाती हैं।

बस यही उत्तर मिलता है विज्ञान से इस बात का भी कि पानी में पत्थर कैसे तैर सकता है।

भारी-भारी हवाई जहाज कैसे आकाश में उड़ने लगे। प्रतिदिन देखते रहने से आश्चर्य नहीं होता। केवल सुनने मात्र से संशय बना रहता है। भगवान की अपार शक्ति में दृढ़ विश्वास द्वारा ही इसका निवारण हो सकता है, दूसरा उपाय नहीं।

श्रद्धावान पुरुष को ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त होता है। (४।३६)। गीता १०।४१ में भगवान ने कहा है, कि हे अर्जुन ! जो भी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य, कान्ति, एवं शक्तियुक्त वस्तु तू देखे उसको ईश्वरीय तेज से उत्पन्न हुई ही जान।

देश देशान्तरों में भ्रमण करने के पश्चात स्वामी विवेकानन्द ने ये शब्द कहे कि जो कोई आश्चर्यजनक बात सुनने तथा देखने में आवे उसको अपनी अल्प बुद्धि में तत्काल वस्तुतः असम्भव मान लेना अज्ञान है।



भगवान अपनी माया का दृश्य हटा देना ।
 अपनी छटा का मुझको सुप्रकाश दिखा देना ॥
 अज्ञान से अंधेरा छाया जो मेरे मन पर ।
 अपनी कृपा से भगवान ! उसे दूर हटा देना ॥
 माया यह आपकी है जो सबको भुला रही ।
 करके कृपा कृपामय ! मुझे इससे बचा लेना ॥
 कब तक जगत में भगवन ! मैं यों पड़ा रहूँगा ।
 अपराध भूलकर सब मुझे पार लगा देना ॥

एक भ्रम निवारण

भ्रम—“मनुष्य को अपने कर्म फल भोगने पड़ते हैं। यदि किसी को कष्ट हो रहा है, और एक दूसरा व्यक्ति, उसे सहायता पहुँचाने में अपने को योग्य पाकर, उसका सहायक बनता है, तो क्या वह उसके कर्म फल में हस्तक्षेप करने का दोषी न बनेगा ? कैसे जाना जाये कि उसको क्या करना उचित है ?

उत्तर—कष्टग्रस्त व्यक्ति को सहायता पहुँचाने की योग्यता के भाव के साथ दुःखों की ओर करुणा भाव भी जो उसके अन्तःकरण में उत्पन्न हुआ है सम्मिलित है; यह पावनकारी है।

दया धर्म का मूल है,
पाप मूल अभिमान,
तुलसी दया न छाँड़िये,
जब लग घट में प्रान।

दया द्विविध कल्याणकारी है। यह कर्त्ता तथा उपकार्य दोनों को ऊपर उठाने वाली है; संकोच के लिए इसमें स्थान ही नहीं। जीव अपने भाग्यानुसार कष्ट भोगता है। उस समय एक योग्य दयावान व्यक्ति का उसके सामने उपस्थित हो जाना उसके किसी शुभ कर्म का ही फल मानना युक्ति युक्त है। जितना भोगवान कष्ट भोग रहा है उसमें एक घर पुरुष की सहायता से निवृत्ति पाना या उसमें थोड़ी न्यूनता का अनुभव हो जाना यह भी उसके किसी पूर्व शुभ कर्म का ही फल मानना उचित है।

जब एक ओर दुःख अथवा कष्ट भाग्य का खेल रहता है तब उसके निवारणार्थ स्थिति तत्काल प्राप्त होना भी उसी भाग्य के आश्रित समझना चाहिये। ऐसे विश्वासी के सामने हस्तक्षेप का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है।

इस प्रश्न पर एक दूसरे प्रकार से भी विचार हो सकता है। भगवान् १८।४८ में कहते हैं, कि धुएँ से अग्नि सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त रहते हैं, अतः अपने स्वाभाविक कर्म (यहाँ दयालु स्वभाव द्वारा प्रेरित कर्म) को, यदि उसके करने में दोष भी दीखे, तो त्यागना नहीं चाहिये। स्वार्थ हानि के चिन्तन में ही भय की उत्पत्ति होती है। जब निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करने की वृत्ति में वृद्धि हो जाती है

तो हस्तक्षेप के परिणाम से उत्पन्न भय का लोप हो जाना अनिवार्य है । निष्काम कर्म योग की सर्व श्रेष्ठ देन अभयता है । दंवी सम्पद प्राप्त पुरुषों के छव्त्रीस सद्गुणों में भगवान ने इसको सोलहवें अध्याय के पहले श्लोक में सर्वप्रथम स्थान दिया है । भगवान कृष्ण के सिर का दर्द उनके भक्त की यह रज से जो उसने अपनी हानि के पथ को त्यागकर निष्काम भाव से तुरंत अर्पण कर दी, मिट नया जब नारद जैसे ज्ञानी भक्त इसी शंका में डूबे रहे कि इससे हमारी क्या गति हो जायगी—पाप लगेगा ।



तुम बिन मेरा कौन सहाई ॥
 तीनों ताप एषणा तीनों,
 षट रिपु करी चढ़ाई ।
 पाप वृत्तियों की बहु सेना,
 मेरी कछु न बसाई ॥
 विषय भोग अरु मलिन वासना,
 हटते नाहि हटाई ।
 माया रंग विरंगी क्षण-क्षण,
 चित को देत डिगाई ॥
 हा, बिगाड़ देता मन चंचल,
 सब साधन चतुराई ।
 प्रभु 'विदेह' की लाज राखिए,
 शरणागत शिर नाई ॥

(२६)

दो सच्ची घटनाओं से ग्रहण करने योग्य एक व्यवहारिक उपदेश

ऊँची-नीची श्रेणी के दो व्यक्तियों के मध्य उत्तेजना हो जाने पर दोनों में धीर की ही शान्त भाव जनित बुद्धि प्रकाश के बल विजय होती है ।

किसी को उद्वेग न पहुँचाने वाला भक्त भगवान को प्रिय है । ऐसा भक्त स्वयं भी किसी जीव से उत्तेजित नहीं होता है (१२।१५) साधारण मनुष्य ऐसा संयमी कहाँ होता है । किन्तु जिज्ञासु “अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्” (१७।१५) । इस तप के अभ्यास में तो लग ही सकता है । ठण्डा लोहा गरम को काट देता है । उलझन में सफलता पाने के साथ संयमी मन की शान्ति भंग होने के क्लेश से बचा रहता है । विपक्षी का मन अशुभ से शुभ की ओर फेरने में अपनी सफलता देखकर उसे आन्तरिक सन्तोष व आनन्द का अनुभव होता है जिससे, भविष्य में उन्नति की आशा होती है ।

क्षमा उन छब्बीस गुणों में से एक है जो भगवान ने १६/१ से ३ में वर्णन किये हैं । ज्ञान के बीस अंगों में भी इसका स्थान है । (१३-७) यह तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति में हेतु रहता है । बलवान को ही यह शोभा देता है । निर्बल की क्षमा कायरता मानी जाती है, वह दोनों ओर हानि कारक होती है । क्षमा वृत्ति से पूर्व आत्मबल का संग्रह आवश्यक है । आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधना द्वारा आत्मबल प्राप्त होता है । इससे सुसज्जित व्यक्ति कल्याणकारी क्षमा का प्रयोग करने योग्य होता है । इसमें भौतिक ऊँची-नीची श्रेणी का प्रश्न नहीं रहता । आत्मिक श्रेष्ठता ही इसका मुख्य अंग है । अतः क्षमाशील होने का छोटे बड़े सभी को

समान अधिकार है। भगवान ने इसको स्त्री पुरुष दोनों का भूषण १०।३४ तथा १२।१३ में कहा है। क्षमा का व्यवहारिक रूप अपने बड़े के प्रति शान्ति भाव का और छोटे के प्रति सहिष्णुता का रहता है। नीचे लिखे उदाहरणों से उसके महत्व का अनुमान होगा। दोनों सच्ची घटनायें हैं।

पहला उदाहरण

एक पाठशाला के प्रधानाध्यापक कक्षा में पढ़ा रहे थे जिसमें लगभग पचास विद्यार्थी थे, जिसमें एक सीधे सादे शान्त स्वभाव वाला नवयुवक था। पुस्तक के एक तथ्य को अध्यापक समझाने में लगे हुये थे, जो उस नवयुवक के समझ में नहीं आ रहा था। उसके प्रश्न का उत्तर थोड़े शब्दों में देकर अध्यापक आगे चलने लगे। परन्तु युवक को सन्तोष न हुआ और उसने दो बार 'क्या साहब, क्या साहब' कह कर रोका। इस पर अध्यापक ने चिढ़ कर कहा—“अरे क्या तुम्हारे कान नहीं हैं ?” उत्तर में युवक ने तुरन्त शान्त भाव से कहा 'साहब मेरे दो कान हैं।' अध्यापक चिढ़े पर और चिढ़े, और बोले 'वे गधे के से लगते हैं।' इस पर युवक ने फिर सरल भाव से उत्तर दे डाला, 'नहीं साहब वे तो आप जैसे ही हैं।' सुनते ही सारे विद्यार्थी हँस पड़े, और अध्यापक जी का मुँह, जो तमतमाहट से लाल हो गया था, पहले तो एकदम फीका पड़ गया, परन्तु उन्होंने क्षण भर में अपने को संभाल लिया, और जब लड़कों की हँसी ज़रा रुकी तो मुस्कराहट के साथ बोले “अजी तुम तो बड़े हाज़िर जवाब निकले, यह हुनर तुमने कहाँ से सीखा।” इस पर युवक ने कहा 'साहब मैं तो आपका ही अतिशय आज्ञाकारी शिष्य हूँ।' सारे भवन में शांतिमय हास्यरस देर तक फैला रहा, जिस द्वन्द्व में पराजित स्वयं अध्यापक जी भी मुख पर मुस्कराहट द्वारा सम्मिलित प्रतीत हो रहे थे। बुद्धि के प्रकाश को प्रकट करने में अनुद्वेग इस प्रकार सदा सहायक रहता है।

दूसरा उदाहरण

एक पाठशाला में अध्यापक के उन वचनों को, जो छात्रों को पढ़ाते समय वह कह रहे थे, सुनकर इन्सपेक्टर साहब ने बताया कि “आपको कौमा अर्द्ध विराम तथा विराम का मर्म भली भाँति लड़कों को समझाना चाहिये, क्योंकि इनके गलत प्रयोग से अर्थ का विपरीत अर्थ तक हो

जाता है।" यौवनापन्न अध्यापक जी को अपने शिष्यों के सामने यह कटाक्ष असहनीय सा लगा, और बोले "अजी ऐसा कुछ नहीं होता," । अनुभव शील इन्सपेक्टर साहब को उनका यह उत्तर सुहाता तो कैसे, परन्तु वे अपने को सँभाले रहे । खड़िया हाथ में लेकर बोर्ड में पहुँचे, और लिखा "अध्यापक जी कहते हैं, इन्सपेक्टर 'फूल' (बुद्धिहीन) हैं।" इस पर अध्यापक जी घबराते हुए बोल उठे "ना, ना, साहब मैं आपका मातहत ऐसे शब्द कैसे मन में सोच व मुँह से निकाल सकता हूँ।" इन्सपेक्टर थोड़ी देर चुप रहे और उसके उपरान्त 'कहते हैं' के पीछे लगे हुए कौमा को मिटा दिया और वहाँ के बजाय 'अध्यापक जी' के पीछे लगा दिया और दूसरा कौमा इन्सपेक्टर के पीछे लगाकर खड़े हो गये । लड़कों ने समझ लिया कि अध्यापक जी को इन्सपेक्टर साहब ने फूल बनाकर दिखा दिया । इस स्पष्टीकरण के सामने अध्यापक जी से कुछ कहते नहीं बना, और लज्जित होकर नेत्र पृथ्वी की ओर किये खड़े रहे ।

ऐसी होती है मन की सूझ, जो उसको ठिकाने रखने में सफल रहता है । ऐसे मन की जड़ क्षमाभाव में रहती है । शांतियुक्त क्षमाभाव ज्ञान वर्धक है । बल प्राप्ति की अभिलाषा मनुष्यमात्र के लिये स्वाभाविक है । अतः विवेकी को आत्मिक बल प्राप्ति के निमित्त अवसर उपस्थित होने पर क्षमा के अभ्यास द्वारा उद्वेग कारक शब्दों के प्रयोग से सदा बचे रहना चाहिए ।



निर्मल मन को एक स्वभाऊ,
परिहर सीय राम पद पंकज,
चितत और ना काऊ ।
जस जस सखि बुदियात बदरवा,
तस तस कोमल भाऊ ॥
इक रस बरसत नैक न जानत,
कौन रंक को राऊ ।
केशी काम कला धर चीहूत
चपल चन्द्रिका चाऊ ॥

(२७)

किस कारणा से ऋषि कुल में उत्पन्न रावणा की पापाचरणा में प्रवृत्ति हुई ?

“रावण का जन्म पुलस्त्य जैसे ऋषि के यहाँ न होकर किसी राक्षस के कुल में क्यों नहीं हुआ ? इसका क्या कारण समझा जावे, कि ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेकर ऐसे अधर्म कर्म किये ?”

उत्तर में—संसार में दोनों प्रकार के उदाहरण सुनने व देखने में आते हैं, एक ओर रावण तो दूसरी ओर प्रह्लाद भक्त । इस युग के जगत विख्यात रत्नों में सर्वश्रेष्ठ रत्न त्यागी जवाहरलाल, ने महात्मा मोतीलाल नेहरू के पुत्र रूप में उत्पन्न होकर वंश की कीर्ति शिखर पर पहुँचाई तो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के चरित्रहीन, निकृष्ट कर्मों के रूप में हीरालाल नामक पुत्र ने जन्म लिया ।

गीता ६।४१-४२ में भगवान ने कहा है, कि योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर जन्म लेता है, और वैराग्यवान पुरुष ज्ञानवान योगियों के कुल में उत्पन्न होता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में अति दुर्लभ है । पहला पुरुष भोगों के वश में होकर भी पूर्व जन्म के अभ्यास से निःसन्देह उन्नति की ओर अग्रसर होता है, और दूसरा पूर्व शरीर में समत्व बुद्धि योग साधना के प्रभाव से भगवत्प्राप्ति के निमित्त भली भाँति शुभ कर्म करता है ।

१४।१० से १६ में वर्णन है कि सत्वगुण की वृद्धि में जब जीवात्मा की मृत्यु होती है, तब तो वह उत्तम कर्म करने वाले श्रेष्ठ कुल में जन्म लेता है, और रजोगुण बढ़ने पर जब शरीर छोड़ता है तब कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है, और तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष सूढ़ योनियों में ।

८।६ में भगवान का बताया हुआ नियम यह है, कि अन्तकाल में जिस भाव को भी स्मरण करता हुआ जीव शरीर त्यागता है, उसी भाव को ही अगले जन्म में प्राप्त होता है। जिस भाव का चिन्तन मनुष्य जीवन पर्यन्त करता है अन्तकाल में भी प्रायः उसी का स्मरण रहता है। इस नियम को ध्यान में रखकर उपदेश ग्रहण करना चाहिए कि जीवन काल में निरन्तर परमेश्वर का चिन्तन करते हुए अपने कर्त्तव्य-कर्मों को निष्काम भाव से करने में मनुष्य लगा रहे।

इस प्रकार अभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त पुरुष रावण की श्रेणी में कदापि नहीं आ सकता। इस श्रेणी में तो “अनिष्टमिष्टं मिश्र” ऐसे तीनों प्रकार के फलदायक कर्मों को करने वाला ही मनुष्य रावण के समान उच्च कुल में जन्म लेकर अधम कर्म करने के योग्य हो सकता है। मृत्युकाल में सत्त्वगुण की प्राप्ति वाला प्राणी उच्च कुल में जन्म लेने का अधिकारी बनता है किन्तु अपने जीवनकाल में उन पूर्व संस्कारों के, जो उसके पूर्व जन्मों में किये हुए अशुभ कर्मों द्वारा इस जन्म में समय-समय पर भिन्न-भिन्न भाग्य रूप में प्रगट होते हैं, उनके आश्रित रहकर परवश दुराचरण करता है, और अपने प्राप्त शास्त्र ज्ञान का और अपनी विवेक बुद्धि का तिरस्कार और अवहेलना करता है।

दूसरी ओर पण्डितजी के समान वे श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, जो अन्तकाल में सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के कुलों में जन्म लेकर अपने पूर्व संस्कारों वश इस जीवन में भी शुभ कर्मों के करने में लगे रहते हैं। इनके भाग्य में इष्ट फलों का भाग अत्यधिक रहता है—विपरीत अधम पुरुषों के भाग्य के, जिनमें अनिष्ट फलों की प्रधानता रहती है।

अतः—

सुमिर सुमिर नर उतरें पार,
 भवसागर की तीक्ष्ण धार ॥
 धर्म जहाज माँहि चढ़ि लीजें,
 संभल संभल तामें पग दीजें।

(११८)

श्रम करि मन कों संगी कीजै,
हरि मार्ग को लागौ पार ।
सुमरि सुमरि० ।

आदवान पुनि बाहि चलावे,
पाप भरै तौ हल न पावे ।
काम क्रोध लूटन कौ आवे,
सावधान हो करौ संभार ।
सुमरि सुमरि०

मान पहाड़ी बन्ध अड़त है,
आशा तृष्णा भंवर पड़त है ।
पाँच मच्छ जहाँ चोट करत हैं,
जान, आंखिबस चलो निहार ।
सुमरि सुमरि०

ध्यान धनी का हृदय धारे,
गुरु किरपा से लगे किनारे ।
जब तेरी बोहित उतरे पार,
जन्म मरन दुःख विपता तार ।
सुमरि सुमरि०

चौथे पद से आनन्द पावै,
या जन में तू बहुरि न आवै ।
चरन दास गुरु देव चितावै,
सहजो वाई यही विचार ॥
सुमरि सुमरि०

केवल एक स्थिति विशेष में ही माता की ज्योति का प्रकाश मिलता है

‘समाचार पत्रों के सम्पादक ऐसे लेख माँगते हैं जिनको वे समझते हैं। उनके ग्राहक रुचि से पढ़ते हैं। इनके लिए वे शुल्क भी देते हैं। छपे हुए लेखों को छापने में वे नियम उल्लंघन के साथ अपने पत्र की मानहानि भी समझते हैं। आप गीतामाता के उपदेशों का प्रचार उनके द्वारा यदि विस्तार से कराने के इच्छुक हैं, तो उनकी आवश्यकता के अनुकूल नये लेख लिखें या फिर इन्हीं में से जिनको आप नया रूप दे सकें दीजिये, जिससे कि वे उसे स्वीकार कर लें।’

उत्तर में—मित्रों, जिज्ञासुओं, अन्य सज्जनों, एवं शास्त्रज्ञों के उद्गारों से तथा समाचार पत्रों में निकली हुई समीक्षाओं से यह निश्चय हो जाने पर कि देश में युवक-युवतियों के आधुनिक समाज के लिये ये उपदेश उपयोगी होंगे। प्रबल आन्तरिक प्रेरणा हुई कि रेडियो तथा समाचार पत्रों का सहयोग इस यज्ञ कार्य में प्राप्त किया जावे। गोरखपुर के “कल्याण” सदृश परोपकारी पत्र ही निःस्वार्थ भाव से ऐसे सेवा कार्य में संलग्न रहते हैं परन्तु उनमें स्थान पाना कठिन है। कई मास पूर्व ही उनकी रूपरेखा रच दी जाती है और विद्वानों के लेखों का स्थान नियत कर दिया जाता है। रेडियो में भी रोचक लेख माँगे जाते हैं। भगवान का कार्य समझकर निःस्वार्थ भाव से प्रचार की योजना करेंगे ऐसी आशा उपरोक्त शब्द सुनकर जाती रही।

पुस्तक की भूमिका में इन लेखों की व्युत्पत्ति का पूरा विवरण दिया है। पाठकों को उससे ज्ञात होगा कि जीवन की समस्याओं से निबटने के लिए गीतामाता की गोद से प्राप्त प्रकाश द्वारा सफलता मिलने पर

आन्तरिक इच्छा हुई कि इस मार्ग का उपयोग अपने पुत्र पुत्रियों कुटुम्बियों तथा अन्य छोटे एवं अज्ञों के हितार्थ किया जावे, उपदेशक के रूप में नहीं, सेवाभाव से, माता के ये उपदेश विश्वासतः तभी सार्थक हो सकेंगे ।

व्यवहार में ग्रन्थियों के उपस्थित होने पर उनके, एवं पठन-पाठन में मनोगत शंकाओं संशयों के निवारणार्थ प्रश्न पाने पर जब-जब माता की शरण में बैठकर इस भावना से उत्तर की याचना की कि जिज्ञासु की ग्रन्थि सुलभे और कठिनाई दूर हो तब-तब पर्याप्त प्रकाश पाया—ऐसा कि सेव्यों को उससे लाभ पहुँचा जैसा कि उनके द्वारा प्राप्त प्रसन्नता पत्रों से विदित होता रहा है ।

पन्चीस तीस वर्षों से एकत्रित व्यक्तिगत विषय पूर्ण पत्रों से तथा इधर के जिज्ञासुओं द्वारा प्राप्त शंका समाधान सम्बन्धित सामग्री से अबतक लगभग १३५ लेख 'लोकसेवा' सम्पादक जी के आग्रह पर बनते चले गये परन्तु अब उनकी समाप्ति का समय पास आता जा रहा है ।

इनके विस्तृत प्रचार के विषय में प्रयत्न करने पर उपरोक्त समस्या उपस्थित हुई । इसकी पूर्ति सम्भव नहीं दिखती । समाचार पत्रों के ऐसे कार्य के लिये प्रेरक बल के अभाव में कैसे काम हो । गीतामाता तो प्रकाश उस दशा में दया एवं कृपा पूर्वक देती है जब सेवा निमित्त उसकी शरण में हो, न कि पत्रकारों की आर्थिक अभिलाषा पूरी करने हेतु । ऐसी स्थिति में आगे का क्रम तभी रह सकेगा जब जिज्ञासुओं के संशय अथवा कठिनाइयों के पत्र आते रहेंगे*, अथवा लेखक के शेष जीवन में विशेष स्थिति-वश ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे जिनसे हृदय में उठे प्रश्नों के उत्तर में माता से प्राप्त प्रकाश की आवश्यकता हो ।

परिधि में आने वाले व्यक्तियों के विशेषकर कौटुम्बिक जिनके

*लोकसेवा के पाठकों से इसके लिए आग्रह किया जाता है कि वे अपने संशय तथा प्रश्न लोकसेवा कालपी द्वारा 'सीकर' को कृपया भेजें । मिल सका तो माता से प्रकाश पावेंगे तथा गीता ज्ञान के प्रचार में सहायक बनेंगे जो प्रत्येक भारतीय का परम धर्म है, विशेषकर इस समय में ।

लोकसेवा ऐसे पत्र सीकर के पास कृपया भेज देगा ।

प्रति उनसे घनिष्टता के कारण हित कामना स्वभावतः अधिक रहती है—दोष असन्दिग्ध रूप से दोखने पर अभिलाषा होती है कि किस विधि से माता के उपदेश उन तक पहुँचाए जायँ जिससे उपदेशक के स्थान में सेवक की प्रतीति उनको हो और जागृति में अति विलम्ब न हो। विलम्ब हो ही जाने पर आत्म निरीक्षण की ओर पुनः ध्यान जाता है और माता से प्रकाश मिलने पर शुद्धि का मार्ग दिखने लगता है।

आत्मश्लाघा का दोष दृढ़ होता है। इससे पीड़ित मनुष्य के नेत्र मिचे रहते हैं। जब वह अपना दोष देख ही नहीं पाता तो उसको दूर करने के विचार का क्या प्रश्न। हित, धैर्य एवं सेवाभाव पूर्ण वचनों की ओर विमुख, दुःख कष्ट तथा मानहानि से उपदेश ग्रहण करने में अशक्त, ऐसों पर माता के उपदेशों का प्रभाव डालने वाले हितैषी को यही मार्ग दीखता है कि अपनी ओर निहारे जिससे उपदेशों की पवित्रता में जहाँ स्व की अपवित्रता मिल कर उनके तेज को क्षीण करती है उसको दूर करने में प्रयत्नशील बने। यह परस्पर की संझाई है। इस नियम के विश्वासी को हतोत्साहित होने का अवसर ही नहीं। माता के आशीर्वाद का हाथ उसके सिरे पर रहता है, और वह उसके कर्त्तव्य कर्म में सदा सहायक बनी रहती है।

अवगुण का होना एक बात है और एक मार्मिक आवश्यक गुण का अभाव दूसरी। आत्मश्लाघा की घोरता ऐसे अभाव के निश्चित संयोग में और भी व्यक्त होती है।

कोई ऐसा अभाव नहीं जिसकी पूर्ति अभ्यास द्वारा न हो सकती हो, परन्तु जिज्ञासाहीन के लिये उन्नति का मार्ग कहाँ; आत्मश्लाघा जिज्ञासा को हरे रहती है। उससे व्यक्ति का पीछा कैसे छुड़ाया जाये। बड़ा कठिन काम है भगवान ही मति फेरे तभी हो सकता है। हितैषी का आशावादी रह कर अपनी ओर का धर्म निष्काम भाव पूर्वक करते रहना ही शान्ति प्रद है।*

*माननीय श्री श्रीप्रकाश जी के लोकसेवा में निकले हुए 'भारतीय आत्म-श्लाघा से पीड़ित' लेख को पढ़कर ये पंक्तियाँ लिखने में आई हैं। यह लेख लोकसेवा अंक १६ जो १६-५-६५ को निकला था उसमें 'हमारी क्या कमी है' इस शीर्षक का था।

इसी मनोवृत्ति से अब तक के लिखे हुये उपदेशों का विस्तृत प्रचार करने हेतु जो व्यवस्था की गई उसका संक्षेप में विवरण यह है :—

स्वर्गीय माता की चौवर्षीय पुण्य तिथि पर १३००* पुस्तिकाएँ (प्रत्येक में पाँच भिन्न-भिन्न लेख, भूमिका, सब लेखों के शीर्षकों की सूची और दो-दो चार-चार पाठकों द्वारा प्राप्त प्रसन्नता पत्र लगाकर) बनाई और उत्तरप्रदेश के ६०० ग्रामीण विकास केन्द्रों में, देश के विश्वविद्यालयों के वाइस चान्सलर्स महोदयों के पास तथा प्रान्त के इण्टर विद्यालयों में एवं अन्य-अन्य धार्मिक स्थानों में बुकपोस्ट, रजिस्टर्ड बुकपोस्ट तथा कहीं-कहीं मित्रों, सज्जनों द्वारा भेजी गयीं ।

पुस्तक (पहला भाग) छप जाने पर लगभग २५० प्रतियाँ तथा लेखों सम्बन्धित सामग्री की फ़ाइल मित्रों, प्रियजनों, विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष महोदयों को, कुछ प्रान्तों के समाचार पत्रों को, समीक्षा के लिये एवं रामकृष्ण विवेकानन्द मिशन, स्वामी शिवानन्द डिवाइन लाइफ तथा विश्व हिन्दू परिषद केन्द्रों को और ४०० प्रतियाँ सहायक मित्रों द्वारा वितरण तथा जिज्ञासुओं को भेंट रूप में देने को भेजी गई ।

आगे के तीन और भागों की छपाई की व्यवस्था की जा रही है और प्रकाशन के लिए निरन्तर आग्रह किया जा रहा है । परन्तु इस ओर अभी तक कोई विशेष गति नहीं प्राप्त हुई है यद्यपि अपने थोड़े से शेष जीवन का लक्ष्य यही समझकर तन-मन-धन से लगे रहना ही अन्तिम बेला की शान्ति का मार्ग समझ में आ रहा है । पुस्तक के चारों भागों के प्रकाशन का कार्य गीताप्रेस गोरखपुर जैसी कोई परोपकारी संस्था अपनाये तभी देश के भिन्न-भिन्न भागों में कम से कम मूल्य में यह जिज्ञासुओं के पास पहुँच सकती है । कृपालु जन इस प्रयत्न में लगे हुए हैं, सफलता देने वाला परमेश्वर है । निबन्धों की विशेषता यही समझी गई है कि सरल भाषा में जीवन की दैनिक समस्याओं को सुलभाने हेतु माता

*ऐसे अवसर पर पूजा हवनादि कर्मों के अनुष्ठान के साथ जो जो वस्तु व पदार्थ लगाए जाते हैं उनमें प्रत्येक की संख्या विधि के अनुसार १३ होती हैं ।

के उपदेशों का अनुभव सिद्ध रूप में गुंथे रहना । पुस्तक की रोचकता की जड़ में यही रहस्य है । इसीके द्वारा वह धीरे-धीरे जिज्ञासु समाज में अपना मार्ग स्वयं बनाती हुई दिख रही है ।

विश्व मातारूपी गीता की बन्दना में—

गीते तुम्हारे ज्ञान की अव्यक्त महिमा को अहा,
रण क्षेत्र में श्रीकृष्ण ने स्वमेव अर्जुन से कहा ।
जिन साधनों की सिद्धि से था पार्थ को सत्पथ दिखा,
भगवान वेद व्यास ने उस पर महाभारत लिखा ।
अध्याय अष्टादश सुखद करते दुखों से मुक्त हैं,
अद्वैत अमृत वारिधर से वे सदा ही युक्त हैं ।
हो मातु समहित पूर्ण कहते मोक्ष का कारण तुम्हें,
अतएव मैं नित शुद्ध मन से कर रहा धारण तुम्हें ।
हे विज्ञ वेदव्यास ! तुमको बार बार प्रणाम है,
शुभज्ञान दीपक को जलाकर श्रम कियानिष्काम है ।
हे भक्त कल्पद्रुम तुम्हें भी है प्रणाम जगतपते,
तुमने किया है व्यक्त गीता मृत महामायामते ।
सब उपनिषद हैं धेनु के ही तुल्य दोग्धा श्याम हैं,
वे पान करते वत्स अर्जुन के सदृश सुखधाम है ।
हैं भक्त जो अन्तःकरण से नित्य करते ध्यान हैं,
करते वही गीता सुधा का प्रेम से नित पान है ।
वसुदेवनन्दन आपकी करता, प्रभो मैं बन्दना,
चाणूर—केसी—कंस आदिक दैत्य को तुमने हना ।
था देवकी को आपने आनन्द से गद्गद् किया,
हे जगद्गुरु, कल्याण का उपदेश तुमने था दिया ।
जिनकी सदा ही वन्दना करते वरुण अनुरक्त हो,
धरते सदा सुर ध्यान विधि सनकादि ईस विरक्त हो ।

नित भक्त रुद्र सुरेन्द्र करते सुयश का शुभगान हैं,
उनको प्रणाम अनेक जिनका सिद्ध धरते ध्यान है ।



जिसकी अचल शक्ति करती है,
सारे भूमण्डल में वास ।
जिसकी भृकुटी पर निर्भर रहता है,
जग का सदा विनाश विकास ॥
जिसके तनिक क्रोध से पाता प्राणी,
इस भू पर अति त्रास ।
जिसकी लेश कृपा से हो जाता है,
सब दुखों का ह्लास ॥
इस सेवक की बुद्धि उसी के,
मधु प्रेम से सनी रहे ।
उसी अनन्त शक्ति दर्शन की,
सदा कामना बनी रहे ॥

(२९)

अवतार की प्रतीक्षा

“गीता में भगवान ने कहा है, कि जब-जब धर्म की हानि (ग्लानि) और अधर्म की वृद्धि होती है, तभी परमेश्वर अवतार रूप में प्रगट होते हैं। आजकल जैसा अधर्म इस देश में चतुर्दिक फैल रहा है इससे अधिक और क्या होगा, तो फिर भगवान क्यों नहीं प्रकट होकर धर्म की पुनः स्थापना करते हैं।”

उत्तर में—सम्पूर्ण स्थिति का ज्ञाता केवल परमेश्वर है, मानव बुद्धि अपनी अल्पज्ञता में उसको क्या जान सकती है। विलक्षण शक्तिशाली मनीषियों की गणना अवतारों में होती है। इनके भी कई प्रकार माने गये हैं। भगवान कृष्ण सोलह कला के, पुरुषोत्तम राम १२ के; प्रभु इसामसीह पैगम्बर मोहम्मद इत्यादि।

१०।४१ में भगवान ने कहा है, कि जो-जो भी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य एवं कान्ति और शक्ति युक्त सत्त्व है, उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ जान।

१६।६ में है कि इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं, एक तो देवों जैसा और दूसरा असुरों जैसा। आसुरी वृत्ति वाले सबके अपकारी क्रूरकर्मों केवल जगत का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

संसार में धर्मधर्म देवों और असुरों द्वारा साथ-साथ सदा से चलता आया है और सदा चलता रहेगा। जब आसुरी वृत्ति वालों द्वारा अधर्म की वृद्धि इतनी हो जाती है, कि साधुगण त्राहि-त्राहि करने लगते हैं, तब उनकी समिष्ट भावना अवतार रूप में प्रगट होकर उद्धार करती है। अपने युग के उदाहरण को ही देखा जावे। विदेशियों के अत्याचार से जब

जनता अघा गई, तब इस युग के अवतार महात्मा गांधी उत्पन्न हुए और देश को स्वतन्त्र किया ।

देश में इस समय के कष्टों तथा अधर्म युक्त व्यवहारों द्वारा अत्यन्त शोचनीय दशा हो रही है । उनकी घोरता से जनता के बिलबिला उठने का समय आते ही अवतार का प्रगट होना प्राकृतिक है । स्थिति अभी नहीं आई है, ऐसा ही मानना युक्त है । अवतार के प्रगट न होने का यही कारण हो सकता है, यद्यपि महात्मा गांधी जैसे अवतार का तो विभूति ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति युक्त मनुष्यों के रूप में भगवान का अवतरित होते रहना प्रत्येक शताब्दि में अनन्त काल से सदा चलता आया है ।

अवतार की गणना में आने योग्य वे ही महान आत्मायें होती हैं, जो असाधारण एवं असम्भव को सम्भव करके संसार को दिखा दें ।

स्वार्थ जनित अन्तर्राष्ट्रीय घोर वैमनस्य के कारण, विज्ञानोन्नति के इस युग में, जब संसार प्रलय के किनारे खड़ा हो गया है, न्युक्लियर एनर्जी के रूप में एटमबम का आविष्कार हुआ, जो मनुष्य की स्वार्थमय बुद्धि को परमार्थ में बदल देने में योग दे रहा है । कष्टों की अत्यधिक घोरता ही अवतार के जन्म का हेतु होती है । ऐसी स्थिति कब होगी इसको सर्वथा परमात्मा ही जानने योग्य है, मनुष्य की क्या सामर्थ्य ।

विनय

इस देश को हे दीन बन्धु ! आप फिर अपनाइये,

भगवान ! भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइये ।

जड़ तुल्य जीवन आज इसका विघ्न बाधा पूर्ण है,

हे रम्य ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए ।

सर्वत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,

फिर भाग्य इसका हे विधाता ! पूर्व सा पलटाइए ।

यह सृष्टि गौरव—गज प्रसित है ग्रह दशा के ग्राह से,
 हे भक्त वत्सल ! शुभ सुदर्शन चक्र आप चलाइए ।
 संपूर्ण गुण गौरव रहित हम पतित अवनत हो चुके,
 अब छोड़ निगुणता, विभो ! सत्वर सगुण बन जाइए ।
 गोपाल ! अब वह चैन की बंशी बजेगी कब यहाँ,
 आलस्य से अविभूत हृगको कर्म योग सिखाइए ।
 जिस बसुमती पर आपने बहु ललित लीलायें नटीं,
 करुणानिधे ! इस काल उसको आप यों न भुलाइए ।
 जीवन गहन बन सा हुआ है भटकते हैं हम यहाँ,
 प्रभुवर ! सदय होकर हमें सन्मार्ग पर पहुँचाइए ।
 वरमन्त्र जिसका मुक्ति था परतन्त्र पीड़ित है वही,
 फिर यह परम पुरुषार्थ इसमें शीघ्र ही प्रगटाइए ।
 यह पाप पूर्ण परावलम्बन चूर्ण होकर दूर हो,
 फिर स्वावलम्बन का हमें प्रिय पुण्य पाठ पढ़ाइए ।
 यह आर्य भूमि सचेत हो, फिर कार्य भूमि बने अहा,
 वह प्रीति रीति बढ़े परस्पर, भीति भाव भगाइए ।
 किसकी शरण होकर रहें, अब तुम बिना गति कौन है,
 हे देव ! वह अपनी दया फिर एक बार दिखाइए ।
 (भारत-भारती)

[२]

भारत में फिर से आय जा गिरवर को उठाने वाले,
 सोतों को फिर से जगाय जा गीता के गाने वाले ।
 नाचा था जिससे त्रिभुवन गूँजा था जिससे मधुवन,
 वह तान फिर से सुनाय जा बंशी के बजाने वाले ।

दुःख द्वन्द्व बढ़ रहे हैं दुष्काल पड़ रहे हैं,
फिर कष्ट सब मिटाय जा गउअँ चराने वाले ।
हैं राधेश्याम निर्बल जन तेरे भक्त वत्सल,
बिगड़ी को फिर बनाय जा बिगड़ी बनाने वाले ।

[३]

जरा अपनी वंशी बजा वंशी वाले,
हमें मस्तके गुल बना वंशी वाले ।
तेरी राह तकते हैं गोकुल के मैदां,
कि फिर आके गउअँ चरा वंशी वाले ।
तेरे आने का मुन्तजिर है जमाना,
कि जल्दी से तशरीफ ला वंशी वाले ।
अजब प्रेम की तूने वंशी बजाई,
कि चर्चा तेरी जा बजा वंशी वाले ।
दिया था जो उपदेश अर्जुन को तूने,
वही आके फिर तू सुना वंशी वाले ।
जुदा भाई-भाई है एक-दूसरे से,
तू ही फिर जो आके मिला वंशी वाले ।

द्विमा

क्षमा बड़न कौ चाहिये छोटेन कौ उत्पात ।

कहा विष्णु कौ घटि गयौ जो भृगु मारी लात ॥

दो युवकों में वाद विवाद से उत्पन्न उद्वेग के कारण वैमनस्य हो जाने पर परस्पर के व्यवहार में जो संकीर्णता आ जाती है, उससे दोनों के ही—विशेषकर भ्रातृ सम्बन्ध की स्थिति में—मनों में क्लेश बना रहना स्वाभाविक है। इससे मुक्ति पाने की विधि श्रेष्ठ जन वह बताते हैं, जो कवि के ऊपर लिखे दोहे में व्यक्त है।

युवकों में बड़ा वही है जो आयु में थोड़ा बड़ा होने के अतिरिक्त, युक्ति युक्त विचारों से प्रभावित होने की मनोवृत्ति से अधिक युक्त हो। उसके सामने छोटे का व्यवहार कैसा भी उपयुक्तानुपयुक्त हो, जब आपस में उसके द्वारा उद्वेग उत्पन्न हो गया तो वह उत्पात ही कहलाने योग्य हो जाता है। विष्णु भगवान और भृगु के व्यक्तित्व में तो बड़ा अन्तर है। तथापि बड़े की बड़ाई से उपदेश ग्रहण करना, आत्मोन्नति में सदा सहायक होता है।

छोटे के उत्पात पर बड़े का क्रोध ग्रसित व्यवहार, विवेक बुद्धि पर तत्काल परदा डालकर, उसके आन्तरिक आत्मबल के विकास में हानि पहुँचाता है। उदार हृदय द्वारा सहिष्णुता पूर्वक परिस्थिति से निबटने में आत्मबल का संचार होता है। यदि उद्वेग के कारण तत्काल इस नियम को भूल भी जायें, तो विवेक बुद्धि द्वारा अपना सन्तुलन प्राप्त करने में देर न करें। विचारवान मनुष्य को हृदय के आवेश में, वाणी द्वारा निकले हुये कटु वचनों की प्रतिक्रिया, आत्मग्लानि के रूप में होनी चाहिये। यदि यह नहीं होती है, तो समझना चाहिये कि उसके आत्मबल की वृद्धि का मार्ग

रुका हुआ है। इसके अनुभव होने पर मनीषी आत्मसंयम की ओर प्रयत्नशील होता है, और भगवान विष्णु के उदाहरण से बल पाता है। फलस्वरूप हृदय की संकीर्णता दूर होकर क्षमा का प्रादुर्भाव होता है। ऐसा होने पर वही मन, जो पहले परस्पर के उद्वेग से मलिन था, क्षमा बल से शुद्ध हुआ प्रेम से भर जाता है, जिससे न केवल आन्तरिक व्यक्ताव्यक्त क्लेश से छुटकारा पाता है, अपितु अपने छोटे पर ऐसा प्रभाव डालता है, कि वह भी अदृश्य रूप से हृदय की मलिनता त्याग, सम्मान और श्रद्धाभाव पूर्वक प्रेम व्यवहार पर आरुढ़ हो जाता है। इसीसे कहा है कि क्षमा, दया आदि गुण दोनों ओर पावनकारी होते हैं। कर्त्ता और उपकार्य दोनों को कर्तव्य पथ पर लगाकर उनके श्रेय के हेतु बनते हैं।

विचार करने पर मनुष्य को स्वयं दीखेगा, कि उद्वेग द्वारा मन की रूँठी हुई दशा में तथा क्षमाभाव की प्रगति से उत्पन्न प्रेम भाव की स्थिति में कितना अन्तर है। एक बार भी ऐसा अनुभव हो जाने पर उस मार्ग में दृढ़ होना स्वयंभावी है। इस दृष्टि से देखिये कवि के उपदेश की परम उपयोगिता।

बिना आत्मबल द्वारा बड़ापन प्राप्त किए क्षमा की सच्ची भावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती। शारीरिक, बौद्धिक आर्थिक तथा किसी प्रकार की सामाजिक उच्चता से उत्पन्न क्षमाभाव की जड़ में अहंकार दृश्य या अदृश्य रूप में बसा रहता है। अतः वास्तव में बड़ा वही है जो आत्मबल से सुसज्जित हो। उसीका भूषण क्षमा है। अन्यो के हाथ में तो वह एक कला रूप में ही रहती है; स्थिति को चाहे सँभाल ले जावे किन्तु उससे आगे आत्मविकास के लिये निरर्थक।

अतः सत्य क्षमाशील पुरुष के लिये आत्मजयी होना आवश्यक है।

प्रार्थना

प्रभु जी बरसा दो शुभ धर्म ।

धर्मवान बनकर सब मानव,

करें सदा शुभ कर्म ॥

[शेष पृष्ठ ६६ के अंत में देखिए]

प्रिय के वियोग जनित शोक विषाद में सत् सान्त्वना ।

“ऐसे पुरुष दुनिया में बहुत कम होंगे, जीवन भर भलाई, नेक कमाई, अपना इतना बड़ा उत्तरदायित्व निभाकर सबको योग्य बनाया, स्वार्थ न देखा, रोगी, वृद्धा माँजी की सेवा में तत्पर। मन हर समय परेशान रहता है, ऐसा कानों से गूँजता है जैसे आवाज दे रहे हों। घर का संभालना भी जंजाल लगता है। इतना बड़ा घर खाने को दौड़ता है, मेरे वश का नहीं रहा। वही काम जो सामने खुशी से करती थी बड़े भारी लग रहे हैं प्रभु कृपा करें मुझे शक्ति देवें। उनकी आत्मा को शान्ति मिले। कितनी कोशिश करूँ अभी तो राम भजन में भी बैठने पर शान्ति नहीं मिलती। प्रभु से ही प्रार्थना है कि उनका न रहना सहने की मुझे शक्ति दें, मैं माँजी की सेवा कर सकूँ।”

तत्ते घाव में ऐसे विषादी उद्गार स्वाभाविक हैं, किन्तु समय बड़ा बलवान है व्यक्ति की बदली हुई स्थिति में किसी न किसी प्रकार बैठा ही देता है; इसी में भगवान की दया रहती है।

यह सत्य है कि ऐसे समय में प्राणी का धैर्य बना रहना कठिन हो जाता है, परन्तु फिर यह विचार करके कि अपना वश ही क्या है, धैर्य समय के प्रताप से मिल ही जाता है। विवेक सहायक तत्काल नहीं हो पाता तो भगवान तो सबके सहायक बने ही रहते हैं, अशान्त मन को शान्त करने में लगे रहते हैं, बस मन प्रार्थी बना रहे। जितना घोर संकट उतनी ही हृदय से प्रार्थना और उतनी ही भगवान की सहायता; इसी विचार से मनुष्य प्रार्थना में दत्तचित्त होकर लगता रहे तो कल्याण मार्ग, जिसकी खोज में मनुष्य संकट के समय छटपटाता है, निःसन्देह मिलेगा।

जो घटना भाग्यवश घटनी थी वह तो घट चुकी, उसके चिन्तन में दुःख ही दुःख का सहना बना रहता है। इस दुःख से छुटकारा पाने का एकाकी मार्ग परमेश्वर के चरणों में अपने को समर्पित करना है, इस आन्तरिक विचार को बढ़ाते हुए कि 'जिस विधि राखे राम'।

वियोग होने पर मन को क्लेश स्वार्थवश होता है।

संयोग से जो शारीरिक सहायता और मानसिक तृप्ति मिलती रही उनका वियोग से अभाव हो जाने पर स्वार्थ पर भारी ठेस पहुँचती है, जिस कारण मन दुःखी रहने लगता है, पर ज्ञान चक्षु द्वारा जब मनुष्य यह देखने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है कि वियोगी की आत्मा का श्रेय उसी विधान की पूर्ति में घटा हुआ था, जो उसके भूत तथा इस जन्म के कर्मानुसार फलों पर आश्रित था, तब अपने प्रिय की आत्मा के हितार्थ जो त्याग रूप से अपने स्वार्थ का विचार उसकी (वियोगी की) आत्मा के परमार्थ में वह लय करता है, वही उस मनुष्य के लिए परम शान्ति दायक बन जाता है।

इस प्रकार भगवत् शरणागति तथा वियोगी की आत्मा के श्रेय के विचार द्वारा जब चित्त की विकलता शनैः शनैः निवारण होती जाती है तब उन शुभ कर्मों की ओर ध्यान जाने लगता है जो सम्बन्धित रहते हैं वियोगी की पावन सुखदायिनी स्मृति से जीवनकाल में अनुभव की हुई उस (वियोगी) की श्रेष्ठताओं से। वियोग इस प्रकार आत्मिक संयोग बनकर इन सब कर्मों को करने की प्रेरणा देता है, और अन्त में हृदय के वचे-खुचे सन्ताप को आनन्दमय स्मृति में बदल देता है। सम्राट शाहजहाँ का ताजमहल हृदय की इस पावन गति का ही एक विशाल नमूना है। प्रत्येक देश के प्रत्येक नगर में ऐसे स्मारक लघु से महान तक भिन्न-भिन्न आकृति के बनते रहते हैं और मानव हृदय के संयोग-वियोग, वियोग-संयोग की लहरों को चित्रांकित करते रहते हैं।

पतिव्रता पत्नी के वियोग के क्लेश से दुःखी होकर एक भद्र पुरुष ने जब ज्ञान की यह रेखा पकड़ी कि जो जीवन में अब तक अधिकतर स्वार्थ में बिता रहा था—उसको पत्नी प्रतिमा रूपी सन्तान के हितार्थ तन-मन-धन से लगाऊँगा, उसको शान्ति के चिह्न देखने लगे। इस संकल्प से

जो आचरण उसका होने लगा उसने उसको आत्मोन्नति में इतनी गति दर्शाई कि वह अपने को कहाँ से कहाँ पहुँचा हुआ पाकर धन्य मानने लगा और उसका सारा क्लेश परमानन्द का अंश बन गया ।

सिर पर पड़े हुए दुःखों की दुःख रूपता को हलकाने, यहाँ तक कि मिटाने में त्याग और सेवा से बड़ी सहायता मिलती है । यही मर्म संयोग वियोग की घटनाओं में अस्पष्ट रूप से रमा रहता है । जिन-जिन ने अपने आचरण द्वारा उसको स्पष्ट कर लिया है वही उसकी सार्थकता की दुहाई देने में समर्थ है ।

मन पर वियोग रूपी बज्र पड़ जाने से सांसारिक जीवन में घोर परिवर्तन हो जाने पर जो स्थिति एक व्यक्ति के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती है उससे आध्यात्म की ओर का अधिक से अधिक लाभ उठाते रहने के अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए । सेवा यज्ञ तप और दान उसकी व्याधि और मन के वियोग जनित क्लेश को हर लेंगे । माँजी की सेवा कल्याणकारी रहेगी ।



साधो एक दिन जाना होगा ।

साथ नहीं कोई जाता है, दो दिन का रिश्ता नाता है ।

कौन किसी का इस सराय में, इकला पथिक रवाना होगा ॥

ऊँचे नीचे महल चुनाए, नौबत नक्कारे बजवाये ।

अब चुपचाप कहाँ जाता है, फिर कब वापस आना होगा ॥

गुल फुलवाड़ी बाग बगीचे बड़े प्रेम से पंछी सींचे ।

उड़ गया आज पखेरू जाने अब किस डाल ठिकाना होगा ॥

क्यों तूने छाया है डेरा प्राणी करना रैन बसेरा ।

काल सबेरा होते ही बस पिंजरे से उड़ जाना होगा ॥

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ।

जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय ॥

भगवान के भजन से दुःख की दुःखरूपता कम हो जाती है, प्राणी निश्चय करके जाने ।

यज्ञ कार्य मध्यस्थ विघ्नवाधाओं की बाहुल्यता से विचलित न होने की अनिवार्यता

यज्ञ कार्य में सहयोगियों का साहस और उत्साह उसका मूलाधार बना रहता है जिसके प्रभाव से कार्य सफलता की गति में वे आशावादी होकर विघ्न-वाधाओं की ओर अचेत से रहा करते हैं। भिन्न-भिन्न रूप में इनके उपस्थित होने पर मन में ग्लानि का आना स्वाभाविक है। गति के प्रति दिए हुए वचन में हानि देखकर खेद होने लगता है इसके प्रगट किए जाने पर सौजन्यता गुण की पुष्टि ही होती है, फिर भी अध्यक्ष की ओर का आश्रय चतुर्दिक साहस वर्धक का काम करता है। कर्म में निष्काम वृत्ति की यह महिमा रहती है कि विघ्न के उपस्थित होने पर उसकी जटिलता के अनुपात में कर्त्ता के साहस का वेग बढ़ाकर उसको उलाँघने की शक्ति प्रदान करती है। इसी को सात्त्विक विधि कहते हैं। किसी प्रकार की पराजय का विकार मन में न आने देना विपरीत इसके द्विगुण उत्साह पूर्वक विघ्न को उलाँघने में प्रयत्नशील बने रहना। ऐसे कर्मयोगी के शीस पर 'सुदृढं सर्वं मृतानाम्' के नाते परमपिता सर्वलोक महेश्वर का सहायक हस्त सदा बना रहता है।

कर्म कौशल्य अर्थ पुरुषार्थ में परमेश्वर के संयोग की नितान्त आवश्यकता रहती है। इसलिये वेद का कथन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ दान और तप रूप क्रियाएँ सदा ओ३म् (ॐ) ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

प्रार्थना में पूर्ण श्रद्धा, शास्त्रानुसार नियत की हुई विधि की सात्त्विकता से मिलकर विघ्नवाधाओं के नाशक प्रभाव को हरते रहने में फलीभूत होती है। ऐसा निश्चय साहस का क्षय रोक कर सदा तारक बना रहता है।

तुम बिन कौन लगावे पार ॥
 भ्रंभा वेग बढ़ा सागर में,
 उठते भाटा ज्वार ॥
 जर-जर नैया दूर किनारा,
 खण्ड दाँड परिवार ॥
 डूब रही तरणी विदेह की,
 खेवे खेवन हार ॥

रिहर्सल की उपयोगिता पर ध्यान

दैनिक जीवन में बहुधा ऐसे कार्य करने के लिए रहते हैं जो दूसरों के संसर्ग से ही पूर्ण हो पाते हैं इनमें अपनी ओर के कर्तव्य भाग पर पहले से पूरा ध्यान देने की आवश्यकता रहती है, फिर भी समय पर कोई विघ्न उपस्थित होकर कार्य में बाधा न डाले इस उद्देश्य से समय आया हुआ मान कर एक बार उसकी नकली कार्यवाही जो की जाती है उसका नाम रिहर्सल है ।

बड़े बड़े महान कार्यों में, जिनमें अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहता है, इन व्यक्तियों को अभ्यास होते हुए भी एक दो बार रिहर्सल में लगाकर आकस्मिक त्रुटि निवारणार्थ सचेत कर देना आवश्यक है; इससे समय पर कुशलता रहती है ।

छोटे दैनिक कार्यों में भी रिहर्सल की उपयोगिता पर ध्यान देना लाभदायक है । ऐसों में जहाँ समय पर भूल प्रगट होने पर हानि का भय हो अथवा किसी-किसी में हानि हो भी जाती है ।

अनुभव की पाठशाला में 'भूल-चूकों से ही मनुष्य उपदेश ग्रहण करता है । व्यर्थ के पश्चाताप रूपी विकार को त्यागकर भूल को भविष्य के व्यवहार में उपयोगी अंग बना लेना ही बुद्धिमानी है । इस तत्व की स्मृति जागृत रहे इसलिए अवसर उपस्थित होने पर कभी अवहेलना न की जाय । अभ्यास द्वारा प्राप्त अनुभव से ही बुद्धि अनुभवियों द्वारा दिए हुए उपदेशों का मर्म ग्रहण करती है ।

अरे मन चिन्ता काहे करी —
 खेवन हार आप खेवेगा,
 तोकूँ कहा परी—
 सीस चढ़ो तो गिरी,
 परम पद ठोकर लाय तरी—



[पृष्ठ १३० का शेष]

विमल विचार भावना निर्मल,
 हों सबके शुभ मर्म ।
 मन वच कर्म शुद्ध हों सबके,
 हों "विदेह" शुभ शर्म (सुख)॥

उपदेश

साधो, मन का मान त्यागो ।
 काम क्रोध संगत दुर्जन की,
 ताते अहि निश भागो ॥
 सुख दुख दौनों सम करि जानै,
 और मान अपमाना ।
 हर्ष शोक से रहे अतीता,
 तिन जग तत्व पिछाना ॥
 स्तुति निन्दा दोऊ त्यागे,
 खोजै पद निरवाना ।
 जन नानक यह खेल कठिन है,
 कोऊ गुरु मुख जाना ॥

ईश्वरार्पण बुद्धि से खान-पान का क्या अर्थ है और उसकी क्या विधि है ?

“यदश्नासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्” (६।२७) ।

“मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्म चेतसा युध्यस्व” (३।३०) ।

भगवान् के कहे हुए इन वाक्यों का स्पष्टीकरण कीजिए—

इस प्रसंग में १७।५-७ में भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए वचनों की ओर ध्यान देने से मार्ग दिखने लगता है। ‘हे अर्जुन, कामना आसक्ति से युक्त जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनो कल्पित कर्म करते हैं तथा जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रियादिकों के रूप में परिणत हुए आकाशादि पंचभूतों को और अन्तःकरण में स्थित मुक्त अन्तर्यामी को भी कृश करने वाले हैं अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध घोर आचरणों द्वारा शरीर को दुःख पहुंचाते हैं एवं भगवान् के अंश स्वरूप जीवात्मा को बलेश देते हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुरी स्वभाव वाले जान’ ।

अध्याय १५ में अपने पुरुषोत्तम स्वरूप को व्यक्त करते हुए भगवान् ने कहा है कि मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य-चबाये, निगलाये, चाटे और चूसे जाने वाले) अन्न को पचाता हूँ ।

अध्याय ४ में मुख्य-मुख्य आवश्यक यज्ञों का प्रकार बताते हुए भगवान् ने कहा है कि योगी जन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थिति रूप योगाग्नि में हवन करते हैं अर्थात् समाधिस्थ हो जाते हैं, दूसरे अपान वायु

में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही दूसरे प्राणवायु में अपानवायु को तथा अन्य प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के परायण होते हैं (रोचक, पूरक और कुम्बक प्राणायाम करते हैं) और दूसरे नियमित आहार करने वाले प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञों द्वारा उनके पाप और इनके भोगरूप फल नाश हो जाते हैं।

शरीर रक्षा सम्बन्धी शास्त्रोक्त नियमों द्वारा, अर्थात् पंच महाभूताधारित प्राकृतिक चिकित्सा अवलम्बित होकर उपरोक्त प्राणायाम की विधियों से शरीर पर जब मनुष्य अधिकार प्राप्त कर लेता है, तब उसमें ऐसी शक्ति का विकास हो जाता है जो शरीर तथा अन्तःकरण के विरुद्ध छोटी से छोटी प्रतिकूलता को तुरन्त जता देती है, अनेक प्रकार की बेचैनी के रूप में—उदाहरणार्थ आलस्यभरी और स्वप्नग्रसित निद्रा, कर्त्तव्य कर्म में अवहेलना, मन की शान्ति भंग, आमाशय में वायु का प्रकोप, अशुभ विचारों की ओर प्रवृत्ति, स्वभाव में रूखापन, अप्रेम, क्रोध का वेग, घृणा इत्यादि।

ऐसे चिह्न दिखते ही जो आत्म निरीक्षण द्वारा कार्य कारण की खोज में लग जाता है उसको 'ट्रायल और एरर' से शान्ति मार्ग मिल ही जाता है। इस विधि में कष्ट सहन रूप में तप और धैर्य की अतीत आवश्यकता रहती है। आत्म संयम द्वारा ही यह कल्याणकारी स्थिति प्राप्त हो सकती है।

अपने में स्थित आराध्य देव को प्रत्येक प्रकार के क्लेश से बचाने हेतु भक्त को संयम नियम सहित शास्त्रोक्त उपदेशानुसार खाने-पीने में सावधान रहने की अभिलाषा प्रबल रहनी चाहिए।

दैनिक अनुभव से सिद्ध होता है कि यही ईश्वरार्पण बुद्धि से खाने पीने का अर्थ है और उपरोक्त विवरण में दी हुई ध्याननिष्ठ चित्त की स्थिति ही उसकी विधि है।

आयुर्वेद का उपदेश है कि आधा पेट भोजन से भरे, चौथाई पानी से और शेष वायु के लिए रखे। कष्टों, दुःखों और रोगों के अनुभवों से मननशील एवं शान्ति प्रिय पुरुष को इस मार्ग पर आना ही पड़ता है, बिना इसके अपने में ईश्वर अंश की पूजा सम्भव नहीं।

इन्द्रिय लोलुपता मानव की परम शत्रु बनी रहती है। इसके हनन हेतु ज्ञान, ईश्वर भक्ति और शुभ कर्म-प्राणायाम, प्राकृतिक चिकित्सा, व्यायाम सम्बन्धी नियमाश्रित कर्म आवश्यक हैं।

एक खान-पान सम्बन्धी ही कर्म क्या, परमशान्ति के इच्छुक को तो सब कर्मों को इसी प्रकार भगवान के चरणों में अर्पण करने योग्य दोष रहित बनाने में ध्याननिष्ठ चित्त पूर्वक सदा प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। यही भगवान का ३।३० में दिया उपदेश है।



प्राणी जीवन के दिन थोड़े ॥
 चेत, अचेत पड़ा क्यों सोता,
 लम्बी चादर ओढ़े ॥
 कर कुछ नेक कमाई क्यों ना,
 पापों से मुख मोड़े ॥
 क्यों 'विदेह' माया तृष्णा के,
 खाता तड़ तड़ कोड़े ॥

अभ्यास की महिमा

“वार्त्तालाप के मध्य विविध प्रकरण पर आपके विचार आपके मुख से सुनकर इच्छा होती है कि ये जन्ता हितार्थ आश्रम से निकलने वाले मासिक पत्र में यदि प्रकाशित किए जाएँ तो बड़ा अच्छा हो।”

“इसका मुझे अभ्यास नहीं है”

किसी विषय में विशेष रुचि देखने पर उसमें अभ्यास द्वारा शीघ्रता से गति प्राप्त होना प्राकृतिक नियम है। मनुष्य को इसकी महिमा चहुँ ओर दीखती रहती है।” भगवान ने दो अवसरों पर इसकी महिमा बखानी है। एक तो बड़े चंचल और प्रमथन स्वभाव वाले दृढ़ बलवान मन को वश में करने की प्रयत्नशीलता में (६।३५), दूसरे ८।८ में जहाँ यह नियम बताया है कि विधिपूर्वक अभ्यास द्वारा साधक परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुष अर्थात् परमेश्वर प्राप्ति रूप अति दुर्लभ कार्य में सिद्धि पा लेता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी स्वाभाविक रुचि और योग्यता के अनुसार जो स्वान्तःसुखाय और लोक हितार्थ उसको अपना कर्त्तव्य देखे, उसके लिए किसी विशेष अवसर की प्रतीक्षा में रहकर समय न बितावे किन्तु अपने उस स्वाभाविक कर्त्तव्य में प्रविष्ट हो जाय। भगवान के निर्माण किये हुए अनन्त शुभकारी नियमों में एक यह भी नियम है कि जिस स्थिति में जीव इस समय है अभ्यास द्वारा उसको आगे की स्थिति के लिए प्रकाश, शक्ति, धैर्य, स्वयं ही प्राप्त होता रहता है। इसके लिए उसको किसी विशेष प्रयास अथवा परिश्रम करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस परमोपकारी एवं सरल नियम द्वारा अभ्यासी के साहस में स्वयमेव वृद्धि होते रहने से कार्य में कुशलता और गति का समन्वय रहता है।

एक बार राष्ट्र कवि स्वर्गीय श्री मैथिली शरण गुप्त जी से उनकी रचना साकेत में पाए हुए श्लेषों से उनकी सूक्ष्म तथा बुद्धि की प्रखरता पर आश्चर्य प्रगट करने पर उनके बड़े सरलतापूर्वक यह उत्तर देने से कि “लिखते लिखते इसका अभ्यास हो गया है, आप से आप बन जाता है कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता” मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। महा कवियों के हृदय मन्दिर में ऐसे विचार समुद्र में ज्वार भाटा सदृश आते रहते हैं और उनकी रचनाओं द्वारा प्रस्फुटित होते रहते हैं।

अभ्यास की महिमा चहुँ ओर प्रगट होती है। जहाँ अभ्यासी का कार्य बड़ी सरलता पूर्वक भगवान के बनाए हुए प्राकृतिक नियम द्वारा सहज रूप से गति मान रहता है, वहाँ उस दिशा के अनाभ्यासी को चकित करता रहता है। ऐसे उदाहरणों पर विचार करने से अभ्यास की महिमा दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष आ खड़ी होती है।

- (क) सिंह जैसे हिंसक और बली पशु से सरकस अध्यक्ष कुश्ती लड़ता है।
- (ख) नियात्रा फॉल पर टांगे हुए एक लोहे के रस्से पर बैठ कर अभ्यासी चाय बनाता है पीता है और सामान लपेट कर सरलता एवं कुशलता पूर्वक किनारे आ जाता है।
- (ग) एक महिला जिसके दोनों हाथ कोहनियों तक किसी कारण नहीं रहे, पैरों की उँगलियों से घागा पिरोती है, खाना बनानी है, पत्र लिखती है।
- (घ) अर्जन कढ़ाए में भरे हुए तेल में सिर के ऊपर नाचती हुई मछली की छाया को देखकर वाण से उसकी आँख भेदता है।
- (ङ) एक ही समय में दर्शकों के दिए हुए लम्बे-लम्बे जोड़ वाकी गुणा, भाग, घंटों की गणना, उच्चारण किए हुए शब्दों की स्मृति, और भी क्या क्या, कही हुई बातों के सही सही उत्तर—कैसी आश्चर्य जनक सिद्धि है जो उसको प्राप्त है।
- (च) मगरमच्छ से भरी ब्रिटिश चैनल में दो दिनों तक लगातार तैरकर तैराक का पार करना।

(छ) व्याध बाल्मीक तथा भारत के योगियों का शक्ति विकास स्मरणीय है ।

ये सब कैसी आश्चर्य जनक सिद्धियाँ हैं । किन्तु अभ्यासी के लिए सहज स्वाभाविक और सरल अभ्यास द्वारा ऐसी अनन्त सिद्धियों पर ध्यान देने व उन पर मनन करने से भगवान के घोषित किए हुए उपरोक्त दोनों अवसरों के आश्वासन पर मन स्थिर होने लगता है और फलतः दत्तचित्त होकर अभ्यास करने की वृत्ति में वृद्धि का आभास ।

“पुरुषार्थ को करो सदा नर करम करम तू क्या गावे
ऐसी वस्तु नहीं दुनियाँ में जो पुरुषार्थ से नहीं पावे ”

पुरुषोत्तम का ज्ञान पुरुषार्थ का प्रेरक है । यह कर्म का अलख जगाता है । जो उससे बल लेकर रचनात्मक कर्म करता है वह परमानन्द में निमग्न रहता है ।

भगवान राम, भगवान कृष्ण, अथवा प्रभु ईसा मसीह के नाम का गुणानुसन्धान किया हुआ जप सार्थक प्रमाणित हुए बिना न रहेगा । अभ्यास की महिमा उसी समय अनुभव होगी जब मनुष्य अपना रूपान्तर होता हुआ देखेगा ।



दिलावे भीख दर्शन की, प्रभु तेरा भिखारी हूँ ॥
चलकर दूर देशों से, तेरे दरवार आया हूँ ।
खड़ा हूँ द्वार पे दिल में, तेरी आसा का धारी हूँ ॥
तू ही माता-पिता बन्धु, तू ही मेरा सहायक है ।
तेरे दासों के दासन के चरण का सेवा धारी हूँ ॥
भरा हूँ प्रभु पाप दोषन से क्षमा कर भूल को मेरी ।
वह ब्रह्मानन्द सुन विनती शरण में मैं तिहारी हूँ ॥

(३५)

सेवा विनय प्रार्थना दैवी सम्पद प्राप्त नर नारी के मुख्य गुण हैं ।

सेवा भाव ही मानव में सूक्ष्म-वृक्ष एवं विनम्रता का प्रादुर्भाव उत्पन्न करता हुआ उसके स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्मों को कुशलता से परिपूर्ण करके स्व के लिए परम शान्ति सुख दायक और साथ ही सेव्य के अतिशय प्रेम, श्रद्धा, कृतज्ञता एवं सम्मान का उसको मात्र बनाने में समर्थक रहता है ।

सेवा और त्याग द्वारा प्राप्त पद सदा निर्दोष होता है, निर्मल बुद्धि में सूक्ष्म और कुशलता रहती है । मनुष्य रूप में परमेश्वर को देखकर जो आनन्द मिलता है वह और किसी प्रकार संभव नहीं । नित्य सुख किसी के सहारे से नहीं आता । वह तो निष्काम अवस्था में रह कर स्वधर्म का आचरण करने वाले के अन्तःकरण में स्वयं उमड़ता है और जितना बाँटा जाता है उतना ही बढ़ता है ।

जहाँ विनय रहती है वहाँ पवित्र शान्त और ज्ञान मय वातावरण बन जाता है । विनय से जो अन्तःकरण की भूमि बनती है उस पर पड़ा हुआ ज्ञान का बीज शीघ्र ही जम जाता है और फिर जब उस पर सेवा का जल पड़ता है तो वह विशेष रूप से फलता फूलता है ।

जप, तप, भक्ति, सदाचार, सात्विक भोजन, पवित्र विचार, सत्संग, नियम और संयम द्वारा धीरे-धीरे स्वभाव सुन्दर बनता है । ज्ञान को व्यवहार में लाने का साधन भक्ति है । एक परिवार के सदस्य उसी समय प्रेम से रह सकते हैं जब सब, सबको सुखी रखने का प्रयत्न तन, मन, दोनों से करें । अभ्यास से वृत्तियों में स्वाभाविक परिवर्तन होकर ४ वजे प्रातःकाल धीरे-धीरे अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

कर्म में प्रत्येक समय सावधानी और तत्परता की आवश्यकता रहती है, चूक होते ही चोट खानी पड़ती है। आलस्य जीव का सब से बड़ा शत्रु है। श्रद्धा, सद्भाव, सत्य, सात्विकता, सौजन्यता, सोहार्द और सेवाभाव से अनासक्ति द्वारा कर्मों का बल चौगुना हो जाता है। उपदेशानुसार आचरण को गीता में अधिक बल दिया गया है।

“परमेश्वर को सच्चे हृदय से सर्वत्र उपस्थित जानकर व्यवस्थित चित्त के कर्म करना, कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करने का यह भाव है। जो अपने प्रत्येक कर्म को तथा हृदय की प्रत्येक तरंग, धन, बल, विद्या, सौन्दर्य को विराट में लगा देता है वही परमेश्वर को कर्म अर्पण करता है। परमेश्वर का पथ सत्य सेवा समता सौजन्यता और धर्म का पथ है। भगवान के पथ को न मानने वाले सब कुछ जानते हुए भी कुछ नहीं जानते, उनका ज्ञान एक धोखा है जिसमें वे फँसे और भूले रहते हैं।

प्रार्थना से धैर्य मिलता है, आत्मबल प्रगट होता है, उत्साह जगता है, परमेश्वर में विश्वास बढ़ता है और भय, व्याकुलता तथा अज्ञान धीरे धीरे ही दूर स्वयं हो जाते हैं। विश्व में विश्वगुरु परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। ऐसा जान कर जो कर्म तथा साधना की जाती है वह अनन्य भक्ति है। अनन्य भक्ति जीव को कर्म के सच्चे सीधे और छल कपटहीन मार्ग पर चलाती है। इस मार्ग पर जीव को ब्रह्म साक्षात्कार होने की आशा रखनी चाहिए।

बहुत जानने से कोई प्रयोजन नहीं। बुरे कर्मों से दूर रहना, अच्छे कर्मों का अहंकार न करना यह मंत्र है।



एक भरोसा हाँ प्रभु तेरा, दीनानाथ तू है मेरा ॥

तुझ बिन और न कोई सहारा, भय दुःख संकट मोचन हारा ।

शुद्ध होवे हरि तन मन मेरा, पाकर प्रभु जी दर्शन तेरा ।

कभी न हो फिर कोई अन्धेरा, सदा रहे मन तुझ से घेरा ॥

प्रगट रूप से असन्दिग्ध निराभिमानी व्यक्ति का अति सूक्ष्म अहंकार प्रसित व्यवहार

ऋषि आश्रम में कई वर्ष तक शास्त्र अध्ययन से परिपूर्ण अपने दो पुत्रों की परीक्षा लेते समय एक व्यवहारी अनुभवी विद्वान पिता ने देखा कि पहले ने अभिमान विहीन शब्दों में सरलता पूर्वक, प्राप्त ज्ञान का प्रदर्शन उनके सामने किया, परन्तु जब दूसरे की बारी आई तो वह उत्तर में इतना कह कर चुप हो गया कि प्राप्त ज्ञान को व्यवहार में लाना अभी शेष है। इस पर पिता ने पहले से कहा कि तुम्हें कुछ समय और शिक्षा ग्रहण करने को आश्रम में लौट जाना चाहिए।

इस पर चकित साहोकर कि भ्राता की अपेक्षा मेरे पूर्ण विवरण देने पर भी, पिताजी का ऐसा निर्णय किस कारण हुआ, उसके प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि 'बेठा ! तुम में अभिमान रहित होने का अभिमान अभी बाकी है'

“मनुष्य के ज्ञान का पवित्र प्रवाह ही गंगा है। विद्यार्थी का ज्ञान मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास में सहायक होता है, किन्तु अध्यात्म विद्या के बिना संपूर्ण विद्यार्थे अधूरी रहती हैं। अध्यात्म विद्या के ज्ञान से ज्ञान की वह ज्योति मिलती है जिसके द्वारा हम अपनी सत्य की सत्ता से सम्बन्धित होते हैं। वाद में धर्म बुद्धि की प्रधानता होती है, राग द्वेष का अभाव रहता है और सिद्धान्त स्थापित करने की तथा मन का संदेह मिटाने की पवित्र भावना रहती है। बातचीत करने में जहाँ पवित्रता, सावधानी, न्याय और सत्य रहता है वहीं परमेश्वर का अनुभव होता है। सत्य को जानने के लिए जिज्ञासा से किया हुआ वाद परमेश्वर की विभूति है।”

अपने पक्ष की पुष्टि में अधिक बोलते रहता, अपनी दृढ़ धारणा के अनुसार अपनी ही कहे जाना, अपनी मान्यता से श्रेष्ठ और न मानना, दूसरे पक्ष की युक्ति युक्त बात को भी धैर्यपूर्वक न सुनना, न समझने की

प्रवृत्ति प्रगट करना, विवाद में सत्यासत्य की मीमांसा से पराजित हो जाने पर मौन भर साध लेना, बलपूर्वक हृदय प्रवेशित सत्य प्रगट हो जाने पर भी नम्रभाव से वंचित रहकर मस्तक का न झुकना, और वाणी से किसी प्रकार का प्रयोग न करके विपक्षी को भ्रम में ही पड़े रहने देना, अथवा त्रुटि सुझाने पर तुरन्त आवेश ग्रस्त हो जाना, और किसी प्रकार अपनी भूल को न मानना, यह सब अज्ञान और आसुरी वृत्ति मूलक हैं, जो सूक्ष्म अहंकार जनित हैं। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो भूल करने से मुक्त हो। ऐसे दोष युक्त व्यवहार से व्यक्ति के सद्गुणों की बाहुल्यता पर भी परदा पड़े रहने से उनकी चमक आधी रह जाती है, अन्तःकरण की मलिनता कटने से रुकी रहती है, बुद्धि कंठित होने लगती है और तेज में कमी पड़ने से प्रभाव मारा जाता है। परस्पर के सम्मान और सद्भावना में इस प्रकार क्षति पहुँचती रहने से गृहशान्ति का वातावरण उभरने नहीं पाता जिस कारण जीवन-रस ही फीका सा लगता रहता है। सारा शरीर स्वस्थ होने पर भी यदि कहीं एक काँटा चुभता रहा तो मनुष्य को चैन नहीं पड़ता, अतः मूर्खता-वश उसको शरीर में छोटा समझ कर पड़े रहने देना और निकाल बाहर कर देने में तत्परता, सावधानी व खोज न बरतना विनाशकारी है।

सूक्ष्म अहंकार के प्रहारों से निवृत्ति पाने के उद्देश्य से मनुष्य में आत्म निरीक्षण का अभ्यास बढ़ते रहना चाहिए। प्रत्येक संघर्ष व घटना के पश्चात् उसमें से सार निकाले बिना उसका त्याग शुभ फल दायक नहीं हो सकता। आत्म निरीक्षण ही भविष्य के लिए उसको सुबुद्धि से युक्त करने में सहायक होता है। इसीको जीवन की पाठशाला कहते हैं जो शान्ति धाम में पहुँचाने में समर्थ रहती है। महर्षि अरविन्द का कहना है कि सन्ताप को मनुष्य पाप का दण्ड न समझ कर उसको उसका पारितोषक समझे, क्योंकि वह अधिक से अधिक सहायता पहुँचाने वाला हो जाता है उस व्यक्ति के लिए जो अन्तः पवित्रता में उन्नति द्वारा आत्मा के विकास की ओर प्रगति बढ़ाते रहने में सदा प्रयत्नशील बना रहता है। मत्त और मस्तिष्क के विकास के लिए कोई सत्व इतना प्रभावशाली और बलवान नहीं होता जितनी कि ऐसी योग्यता जिसके द्वारा विधि एवं सत्यता पूर्वक उन सब तथ्यों की मीमांसा की जा सके जो जीवन में दृष्टि गोचर होते रहते हैं।

(पद पृष्ठ १४९ पर है)

बुद्धिमान पिता, पुत्र, सास, बधू के परस्पर के संबंध तथा व्यवहार पर विचार

वार्त्तालाप मध्य एक पाश्चात्य विदेशी के मुख से निकले हुए ये शब्द सुनने में आए “ए सन इज ए सन, सो लॉग ही डज नोट गेट हिज वाइफ़, बट ए डाटर इज ए डाटर वन्स होल लाइफ़” अर्थात् पुत्र को पुत्र उसी समय तक समझो जब तक उसकी पत्नी नहीं आती, किन्तु पुत्री तो जीवन भर पुत्री ही बनी रहती है। उस सज्जन की एक कन्या ही जीवित सन्तान थी, पुत्र की युवावस्था में मृत्यु हो गई थी, विवाह का समय समीप आ रहा था। पुत्र के वियोग से दुःख तो था ही, परन्तु उपरोक्त विचार द्वारा उन्होंने मन को समझा लिया था कि विवाह हो जाने पर उससे सम्बन्ध तो वैसे भी छूटना था ही; अतः पुत्री के स्नेह पर ही आश्रित थे।

यद्यपि न तो सब पुत्र एक से होते हैं और न पुत्रियाँ ही, तो भी पाश्चात्य संसार का ऐसा अधिकांश अनुभव उन्होंने व्यक्त किया भारतीय संस्कृति से भूले भटके नवयुवकों की भी मनोवृत्ति पुरातन आदर्श से भिन्न इसी प्रकार क्यों न हो जाय, जब माता-पिता का व्यवहार घर में आई हुई नवबधू से पुत्रीवत् न होकर द्वेष व ईर्ष्या पूर्ण इस धारणा में हो कि बधू ने जो अबतक हमारा धन रूप था उसको हमसे छीनकर अपनाकर लिया। विवाह होने पर प्राकृतिक नियमानुसार युवक युवतियों के हृदय का स्नेह बटने लगता है, जो पहले एक देशीय रहता था वह द्विदेशीय होने लगता है। जो माता-पिता इस स्व के भी अनुभव की अवहेलना में वर्तने लगते हैं वे अपने आप जीवन में संकट बटोरते हैं। मनुस्मृति में सन्तान के प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर उनके प्रति व्यवहार प्रौढ़ मित्र का सा होना नीति युक्त कहा है। मित्रों की मित्रता परस्पर के शुद्ध प्रेममय

सेवाभाव युक्त व्यवहार पर ही आधारित रहती है। एक देशीय स्वार्थ उसमें घातक ही होकर रहता है। अधिकांश आर्थिक सामर्थ्य वाले माता-पिता का विचार रहता है कि सन्तान के स्वतंत्र व सामर्थ्यवान हो जाने पर उनसे दूर रहने में ही भलाई रहती है। छोटी-छोटी बातों में मन मुटाव के अवसर होते रहने से पूर्ववत् परस्पर का स्नेह क्षीण होता रहता है, नए और पुराने युगों के भेदों की भिन्नता प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहती। भिन्नता तो सत्य है परन्तु इससे उत्पन्न दोषों की जड़ अहंकार में छिपी रहती है। अहंकार निरर्थक आशाओं से पोषित होता है। जब दो सत्पुरुष एक ही निवास स्थान पर सुख एवं चैन से पड़ौसी रूप में रह सकते हैं तो उदारता, सौहार्द, क्षमा, सेवा से युक्त एवं अहंकार विहीन मनोवृत्ति होते हुए सत्पुरुषों की जीवन यात्रा क्यों नहीं आनन्द पूर्वक साथ-साथ चल सकती है। ये गुण जीवन मार्ग की भिन्नता को शुभकारी बन्धन में बाँधने के लिए पर्याप्त है। वृद्धावस्था की शक्ति हीनता में युवक सहायक और युवावस्था की अनुभव हीनता में वयोवृद्ध सहायक।

किसी निराशावादी ने अपनी मानसिक अवस्था को कैसे मार्मिक ढंग से यों व्यक्त किया है :—

धी जमाई ले गये, बहुएँ ले गई पुत्रन को,
 बुड्ढा बुड्ढी रह गए, खों खों करने को,
 किम्बा हरि हर जपने को।

हरि हरि जपने की वास्तविक स्थिति का तो कहना ही क्या। यदि यह सच्ची है तब तो सन्तान की सहायता युक्त मध्यता इसमें हितकारी ही बनी रहेगी और पृथक्ता अनुपयोगी। भूठों से तो जीवन भारी ही बना रहेगा, समय काटे नहीं कटेगा।

मन के दोष युक्त विचारों को संयम द्वारा अपने अधिकार में रख कर मनुष्य प्रत्येक स्थिति में सुख पूर्वक रह सकता है। इस नियम के विश्वासी के लिए कहीं आपदा नहीं।

अशिक्षित असंस्कारी पत्नी के सास रूप में प्रत्यक्ष द्वेष भाव को साधे रखना बुद्धिमान शिक्षित पति का परम धर्म है। दया, प्रेम और

सेवाभाव से इसको निभाना चाहिए । स्वभाव में बल पूर्वक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता । दीन की विवेक रूपी अन्तरात्मा को जागृत करने की चेष्टा में सदा लगे रहने से ही सफलता की आशा की जा सकती है । स्वाभाविक दोषों का छूटना व छुड़ाना बड़ा कठिन है, इसके लिए अपार धैर्य और हित कामना की आवश्यकता रहती है । भगवान के आश्रय से अपनी प्रयत्नशीलता में मनुष्य अटल बना रहेगा तो जगत पिता की कृपा हुए बिना न रहेगी ।



सुलभ दर्शन नहीं तेरे प्रभु, किधर अब नाथ जाऊँ मैं ।
 बता साधन कोई ऐसा, कि जिससे तुझ को पाऊँ मैं ॥
 न मन की मैल धुलती है, न बिरहानल ही बुझती है ।
 सहस्रों बार चाहें गंगा, यमुना जाके नहाऊँ मैं ॥
 सुना है तुम हो निर्भोगी निराहारी, निराकारी ।
 तो कोई फूल फल पत्ती, व डाली क्यों सताऊँ मैं ॥
 नहीं देता हूँ कुछ उत्तर, किसी को चुप ही रहता हूँ ।
 पता तू ही बता तेरा किसी को क्या बताऊँ मैं ॥

[पृष्ठ १४६ का शेष]

(भैरवी) अब मोहे प्रेम की भूख विधाता, प्रेम पदारथ दीजें ॥
 जब लग जीऊँ तब गुण गाऊँ, ये ही कृपा मोपै कीजें ॥
 निशदिन मेरो मन तब लोचन प्रेम पिआला पीजें ॥
 यह विश्वासी कर जोड़ मांगे, दीन बिनय सुन लीजें ॥

कार्य की कुशलता में दीर्घ सूत्रता का विरोधी प्रभाव

अंग्रेजी में एक कहावत है कि “नेवर पुट ऑफ टिल टुमारो वाट यू केन डू टुडे” अर्थात् जो कार्य मनुष्य आज आसानी से कर सके उस को कल के लिए कदापि न उठा रखे। वह कर्त्ता तामस कहा जाता है जो कि थोड़े काल में होने लायक कार्य को, फिर कर लेंगे ऐसी आशा से उसी समय नहीं पूरा करता और भविष्य के लिए छोड़ देता है (१८-२८) - ऐसी बात नहीं है कि विक्षिप्त चित्तवाला, शिक्षा से रहित अथवा घमण्डी जो तामसी वृत्ति वाले मनुष्य के भगवान ने इस श्लोक में अवगुण कहे हैं वही ऐसी त्रुटि करता रहता हो। जैसे निद्रा, आलस्य, तामस वृत्तियाँ सभी मनुष्यों में प्राकृतिक शुभकारी नियमों को जाने अनजाने उल्लंघन करने से घेरती रहती है, उसी प्रकार यह दोष भी बन जाता है। कहा जाता है कि एक कर्नल के संग्राम में पराजित होने का कारण समय से मालूम हो जाने पर भी अपने घोड़े की नाल में एक ढीली कील को तत्क्षण ठीक न कर लेना हुआ। ज्यों-ज्यों पग बढ़ता गया नाल ढीली पड़ती गई, संग्राम व्यवस्था में मन के जुटे रहने से उस ओर का ध्यान मिटा रहा और घोड़े की चाल ने जब दोष प्रकट किया तब रण के मध्य इसके लिए न अवकाश न साधन। जो कार्य इस क्षण एक सीधा-साधा सरल दीखता है उसमें आगे क्या विघ्न उपस्थित होकर उसे पूर्ण होने से रोक दें इसको कौन पहले से जान सकता है जो उनका समय से उपाय कर रखे। ऐसी व्यर्थ की उलझनों से निबटने की आवश्यकता से अपने को सुरक्षित रखने हेतु इसी सरल नियम का पालन करने के अभ्यास में लगे रहना श्रेयस्कर होता है कि तामसी मन जो कार्य कल करना चाहे उसे विवेकी आज करे और जो आज के लिए हो उसे अब कर ले।

इस उपदेश की सार्थकता जीवन की पाठशाला में छोटी-छोटी बातों में अशुभ परिणाम सहने के द्वारा अनुभव होती हैं। बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे दो चार अवसरों से ही उपदेश ग्रहण करके अपने में सुधार कर लेता है किन्तु मूढ़ अवहेलना द्वारा उस ओर से अचेत ही बना रह कर उसके दुष्परिणाम भुगतता रहता है फिर भी आँख नहीं खोलता। अवहेलना द्वारा कोई भी दोष अपनी पूर्ववत् से आगे की गति से ही बढ़ता है, अतः प्रगट होते ही उसके साथ शत्रु तुल्य संग्राम करना मंगलकारी होता है। ऐसे विश्वासी में ही अपना रूपान्तर करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। उन्नति मार्ग में प्रभु 'सुहृदं सर्वं भूतानाम्' के नाते सदा सहायक रहते हैं। छोटा दोष हो या बड़ा पहले तो उसको देखने की दृष्टि और समझने की बुद्धि होनी चाहिए, उसके उपरान्त उससे निवृत्त होने का दृढ़ निश्चय। इतना होते ही दोष का बल आधा रह जाता है और पुरुषार्थ एवं प्रभु दया और कृपा द्वारा उसके दूर होने में देर नहीं लगती। ऐसी धारणा मंगल मूलक है।

नहीं भविष्यत पर पतिआओ, मृतक भूत को जानो भूत।
काम करो सब वर्तमान में, सिर प्रभु, मन दृढ़ यह करतूत ॥

उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है जो सोवत है सो खोवत है ॥
टुक नौब से आँखियाँ खोल जरा, ओ गाफिल रव से ध्यान लगा।
यह प्रीति करन की रीति नहीं, रव जागत है तू सोवत है ॥
नादान भुगत करनी अपनी, ओ पापी ! पाप से चैन कहाँ।
जब पाप की गठरी शीश धरी, तब शीश पकड़ क्यों रोवत है ॥
जो कल करना है आज करो, जो आज करो सो अब कर लो।
जब चिड़ियन ने चुग खेत लिया, तब पछताए क्या होवत है ॥

सूक्ष्म-ब्रूक्ष की जनक जहाँ केवल एक और स्वार्थ
मयी कामना है वहाँ दूसरी और निष्काम
सेवा भाव यह सर्वांग उन्नति कारक
तो वह अवनति ।

कर्तव्य कर्म को पहचानने के लिए और उसको कुशलता पूर्वक करने के लिए बुद्धि की शुद्धता आवश्यक है । यह न हो तो श्रद्धा हो जो शास्त्र के बताए हुए मार्ग पर चले । दोनों के अभाव में प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त अशान्त और मानसिक दुःख में डूबा रहता है जिससे जीवन की उमंग मारी जाती है । इस दुःख रूपी जल से जिज्ञासा कदाचित् हरी हो जाय तो मार्ग ढूँढने में प्रयत्नशीलता आ जाती है और व्यक्ति उन्नति मार्ग को पकड़ लेता है ।

“शुभ और अशुभ का आधार मन है । स्वार्थमयी कामना से प्रेरित मन मनुष्य को नीचे की ओर खींचता है । कामना का साधारण अर्थ इच्छा है । प्रत्येक मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की इच्छा होती ही है । सात्त्विक विचारों से बनी हुई इच्छा मनुष्य को महान बना देती है । राजसी और तामसी से बनी हुई अनेक प्रकार के पाप कराती है । काम का आशय है, रजोगुण से उत्पन्न विषय-वासना तृष्णा आदि—ये सद्गुणों के घर को लूटने वाले डाकू हैं, मनुष्य की सब प्रकार की घात करते हैं, तन, मन, बुद्धि को बलहीन अस्वस्थ तथा निस्तेज कर देते हैं । ऐसे पुरुष को दीन और भयभीत रहना पड़ता है । कामना ज्ञान को ढक लेती है । महापापी काम से बचने वाला अनन्त आनन्द का अनुभव करता है ।”

राजसी और तामसी विचारों से बनी हुई इच्छा द्वारा जो मनुष्य में सूक्ष्म-ब्रूक्ष उत्पन्न होती रहती है उसका अनुभव साधारण मनुष्य को भी

प्रगट है। वन उपाजंन अथवा ऐसी ही अनेक प्रकार की स्वार्थ सिद्धि हेतु पृथक-पृथक विधियों का संचालन चतुर मन कैसी दक्षता पूर्वक कर लेता है, इसका अनुभव किसको नहीं है। शास्त्र और सदाचरण के प्रतिकूल व्यवहार में भी ऐसे स्वार्थी पुरुष को संकोच नहीं होता। कपट, धोखा, विद्रोह आदि के मार्ग में सूझ-बूझ बिना कोई काम नहीं सघता। चोर को उसकी तामसी वृत्ति कैसी चतुराई पूर्वक अपना व्यवसाय पूर्ण करने की शक्ति से सम्पन्न कर देती है। अतः विषय-वासना, तृष्णा आदि सद्गुणी के घर को लूटने वाले डाकू कहे गए हैं। वे मनुष्य की सब प्रकार की घात करते हैं, तन, मन, बुद्धि को बलहीन अस्वस्थ और निस्तेज कर देते हैं। माता का यह उपदेश प्रत्यक्ष रूप से सत्य ही सत्य है।

दूसरी ओर सात्त्विक विचारों से बनी हुई इच्छा मनुष्य को महान बना देती है। सात्त्विक वृत्ति सम्पन्न व्यक्ति स्वान्तः सुखाय निष्काम कर्म करके अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। यही उसको ऐसी सूझ-बूझ की आन्तरिक प्रेरणा से सुसज्जित करके परमार्थ में लगाए रखता है। आन्तरिक लक्ष्य सेवाभाव का न होते हुए भी उसके प्रादुर्भाव का हेतु यही बन जाता है। निष्काम कर्मयोग की महिमा भगवान ने अपने दिव्यगान में कैसी गायी है। इसीको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का सीधा सत्य मार्ग बताया है, अतः यही सर्वांग उन्नति का मूलधार है।

अनन्त आनन्द की अनुभूति दुर्लभ है। अभ्यास द्वारा यह प्राप्तव्य है, साधना इसका मार्ग है। जिसको श्रेष्ठ पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धा होती है वह इस ओर झुकता है और गीता ज्ञान के प्रकाश में विनय प्रार्थना से युक्त होकर सेवा कार्य में लगता है, इसमें गति प्राप्त होने पर उसको स्वयं उस अनन्त आनन्द की रेखा दिखने लगती है।

निष्काम सेवाभाव की प्रगति युक्त दशा में फिर सूझ-बूझ की क्या कमी रह जाती है - इस ओर की उदासीनता का उस समय अन्त हो जाता है, वह ठहर नहीं सकती। इस निश्चित और स्थिर विश्वास की शरण मनुष्य पकड़े रहे।

साधक और ज्ञानी दोनों के लिए शास्त्र ज्ञान को कार्यान्वित करने का प्रेरक स्वान्तः सुख रहता है। उनके लिए वही सब कुछ है। इसके द्वारा जो कुछ परहित सध जाय उनको वही अभीष्ट है। पर हितरतत्व उन का वास्तविक लक्ष्य नहीं होता, अतः इसका अप्रासङ्गिक प्रदर्शन प्रायः असत्।

“सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि” (३-३३) (पद १५७ पृष्ठ पर)

मौक्तिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में पति-पत्नी के संगठित योग बिना कार्य कुशलता में पूर्णता दुर्लभ ही नहीं असम्भव सी रहती है ।

१. “मनुष्य ऐसा साथी चाहता है जो उसका मित्र भी हो और पथ प्रदर्शक भी, जिसके साथ आहार विहार में, उठने-बैठने में, सोने जागने में, एकान्त में और सब के साथ रह कर उसके सब कर्म सफलता पूर्वक हों; पति का पत्नी रूप में और पत्नी का पति रूप में ऐसा योग हो जाना कितना सौभाग्य है। पिता पुत्र, पति पत्नी, भाई बहन, सास बहू सब में प्रेम वही होता है जहाँ सावधानी से पवित्र व्यवहार किया जाता है यही ज्ञान है ।

२. स्त्रियों के इन गुणों में परमेश्वर की विभूति प्रकट होती है—मधुर स्वभाव वाली, क्रोध न करने वाली, प्रिय बोलने वाली, गृहस्थी के अनुकूल कर्म करने वाली, सबके चित्त के समान अपना चित्त बनाने वाली, घर के कार्य करने वाली । ऐसी नारी कान्तिमय ऊषा के समान उदय हो कर घर में प्रकाश कर देती है, वही वृद्धि करती है, पवित्र कर्म करती हुई श्री और तेज बढ़ाती है, सत्य सेवामय व्यवहार से घर को बसाती है ।

३. जिस स्त्री-पुरुष के पास यश और कीर्ति, जो सत्कर्मों का फल है, नहीं है वह जीता हुआ भी मरे के समान है । वाणी अनन्त शान्ति को देने वाली है । हृदय के विचारों और उद्धारों को प्रगट करने वाली वाणी है । मनुष्य वाणी से पहचाना जाता है । मधुर सत्य पवित्र वाणी से ही शान्ति का वातावरण बनता है । जिसके मुख से अमृत भरता है वह

चन्द्रमा के समान शीतल और प्रकाशमान होता है। सत्य शिव और सुन्दर वाणी परमेश्वर की विभूति है, जो विवेकी स्त्री पुरुष रूप में साक्षात् प्रगट होती है। स्मृति जितनी अधिक तेजस्वी और तीव्र होती है मनुष्य उतना ही अधिक सावधान प्रतिभाशाली और कर्मकुशल होता है; यह मानसिक शक्तियों में एक प्रबल शक्ति है। ज्ञान को धारण करने वाली शक्ति मेधा है। इसे देवी और पवित्र बुद्धि कहते हैं। विजय, श्री वैभव, सुख, सामर्थ्य, सब बुद्धिमान के लिए है। बुद्धि ज्ञान की जननी है धृति वह मानसिक शक्ति है जो प्रत्येक अवस्था में आश्वासन और बल देकर मनुष्य को गिरने नहीं देती; आपत्ति काल, व्याकुलता और दुःख में धृति ही सहारा देती है; धैर्यहीन बीच में ही डूब जाता है। धैर्य और दृढ़ता से कर्म करने वाले के साथ परमेश्वर रहता है। सफलता की जड़ में धैर्य छिपा रहता है। धीरज विजेताओं का साहस और भक्तों की माला है। क्षमा वीरों का भूषण है, वह दैवी है जो कभी पराजित नहीं होती -"

४. गीतामाता के इन उपदेशों के प्रकाश द्वारा अभ्यास में रत पति-पत्नी का संगठित योग ही कार्य कुशलता में पूर्णता का जनक रहता है। परस्पर के स्वभाव जनित भेदभाव को मिटाकर जब तक 'दो शरीर एक प्राण' होकर जीवन प्रवाह में नहीं रमते सिद्धि नहीं मिलती।

५. इसकी विधि माता ने यह बताई है—"भगवान् दीनबन्धु हैं, उनको सबसे अधिक प्रिय सेवा है। प्राणी मात्र की सेवा भगवान् की अनन्य भक्ति है; परहित के समान दूसरा कोई धर्म नहीं। प्रेम सेवा और परोपकार के बिना धर्म सारहीन है। महापुरुष सबका हित करने के लिए जन्म लेते हैं। कामना के रहते स्व में भी सुख नहीं मिलता, पाप पीछा नहीं छोड़ते, द्विविधा बनी रहती है, संयम नहीं बनता और परहित का भाव नहीं उठता। मुक्ति मनुष्य की ईश्वर दत्त सम्पत्ति है। इसको छीनकर जीवन को पराधीन करने वाली कामना है। मन का विषयों के साथ सम्बन्ध होते ही काम उत्पन्न हो जाता है। यह कभी पूरा नहीं होता। काम और क्रोध परस्पर अभिन्न मित्र हैं ज्ञान और काम घोर शत्रु हैं। ज्ञान और कर्म के योग से संयम होता है। इसके महायोग से ब्रह्म निर्वाण प्राप्त शुद्ध मन सब ओर ब्रह्म को देखता है।"

६. भारतीय आदर्श का प्रदर्शन सीताराम, राधाकृष्ण जैसे

अवतारी महान स्त्री पुरुषों की पवित्र कृतियों की गाथाओं में समाहित है। उपदेश ग्रहण करने वाले दम्पतियों के लिए यह महा निधि है।

७. स्वभाव जनित भेदभाव द्वारा उत्पन्न ज्वाला से पति पत्नी के सम्बन्ध में दोनों को अपने आप को बचाए रखने हेतु शान्त वातावरण बनाए रखकर प्रत्येक चूक व घटना से उपदेश ग्रहण करने के ज्ञानवान् अभिलाषियों के लिए सेवाभाव से सुसज्जित रहना नितान्त आवश्यक है। यही शान्ति प्रद बना रहकर उपदेश ग्रहण करने तथा उसको भविष्य के व्यवहार में कार्यान्वित करने की शक्ति में वृद्धि कारक हुआ पर्याप्त सूक्ष्म उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार परस्पर की मंभाई द्वारा दोनों प्राणी समय पाकर “एक्य” मार्ग के दो पथिक बन जाने की आशा कर सकते हैं। स्वस्ति !।

८. “पतिव्रता स्त्री की शक्ति किसी तपस्वी महात्मा से कम नहीं होती। पति-पत्नी की मानसिक अभिन्नता में स्त्री के पतिव्रत का निवास रहता है। इस दुर्लभ को सुलभ बनाने के कार्य में अपना प्रत्येक प्रकार से पूर्ण योग देने में सदा सावधान व प्रयत्नशील बने रहना पतिव्रता का मुख्य लक्षण है। जिसने इसमें सफलता प्राप्त कर ली है वह स्त्री धन्य है। एक मार्ग के दो पथिक बनकर शरीरान्त तक रहे। शान्ति दाम्पत्य जीवन का सार है। गृहस्थाश्रम के स्थूल विषयों में एकता चाहे जीवन साध रहे, परन्तु सूक्ष्म विषयात्मक भेद संध्याकाल को अमंगलमय बना देता है। इस अवस्था में नाता जुड़ाए रखने के कार्य में परमेश्वर की शरणागति के मार्ग से बढ़कर दूसरा कोई मार्ग नहीं। नदी के दोनों तीर जल प्रवाह सम्बन्ध द्वारा एक दीखने लगते हैं, अन्यथा सामने होते हुए भी अन्त तक पृथक ही पृथक बने रहते हैं। नारी की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, धृति, मेधा और क्षमा के रूप में परमेश्वर प्रगट रहते हैं, पर अबला होने से धर्म, अधर्म दोनों का प्रभाव स्त्री पर जल्दी पड़ता है। इस ओर सदा शुभचिन्तक पति का सावधान रहना धर्म है। परमेश्वर की शरण पकड़ने से कोमल चित्त और गृह कर्मों में निरत रहने वाली अबला भी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होकर धर्म की रक्षा करती हुई परम गति प्राप्त कर लेती है। परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उन्नति का साधन है।”

६. गृह लक्ष्मी पति के लिए आवश्यक वस्तुय जुटा कर एवं मानसिक संतोष देकर प्रसन्न और कृत कृत्य होती है उसी प्रकार जैसे भगवान नित्य युक्त भक्त का योग क्षेम करके प्रसन्न होते हैं।

उतारो अब की बार मोहि पार ॥
उवर उवर कर भव सागर में, डूब चुकी बहु बार ॥
तिरत तिरत तिरती तिर जाती, डूब जात मझधार ॥
ज्वार भाट जब उठत, छुटत कर दांड मात पतवार ॥
झंझ बात जब झक झक झोरत उठत तरंग अपार ॥
नैया डग मग डोल रही है, मुनि 'विदेह' इस बार ॥

(पृष्ठ १५३ का शेष)

राम नाम रस पीजै, मनुआ राम-नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सत-संग बैठ नित, हरि चरचा सुन लीजै ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, बहा चीत से दीजै ।
मीरा के प्रभु गिरवर नागर, ताहि के रंग में भीजै ॥

एक मार्मिक शंका समाधान

१. “जीव के अनेक जन्मों का ज्ञान, अनेक विद्याओं (गणित, ज्योतिष, अर्थ शास्त्र इत्यादि) का ज्ञान, अनेक भाषाओं (अंग्रेजी, लेटिन, संस्कृत इत्यादि) का ज्ञान, भूत भविष्य का ज्ञान (त्रिकाल दर्शित्व) यह सब मन, चित्त, बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से ही होता है, कोनश्यन्स (आत्मा) तो अलिप्त केवल प्रकाशक है। जब गीता अध्याय ४ श्लोक ५ में भगवान ने अर्जुन से यह कहा कि मैं तुम्हारे व अपने सब जन्मों को जानता हूँ तुम नहीं जानते, तो आत्मा की स्थिति से निर्मल मन बुद्धि की उपाधि के सम्बन्ध में उतर कर ही कहा होगा। संसार में कोई ऐसा सिद्ध पुरुष नहीं हुआ है जिसमें भूत, भविष्य, सम्पूर्ण विद्याओं, भाषाओं का ज्ञान निर्मल मन, चित्त, बुद्धि की स्थिति पा जाने से आ गया हो। सिद्ध अनुभवियों के वाक्य केवल परमानन्द स्थिति की प्राप्ति के मिलते हैं सर्वज्ञता के नहीं।”

इस शंका पर प्रकाश डालिये हो सके तो

२. उत्तर में—प्रकृति के बन्धन में पड़कर आत्मा की अपार शक्ति में सीमितता आ जाती है; अन्तःकरण-मन चित्त बुद्धि-पर अविद्या का पड़ा हुआ आवरण ज्यों-ज्यों अभ्यास द्वारा दूर होता जाता है आत्मा का प्रकाश उभरता रहता है। द्विभाषी, त्रिभाषी—विविध भाषियों में इसी प्रकाश का चमत्कार प्रगट होता है। आत्मा के प्रकाश में ही इस प्रकार की अनन्त विविधताओं का अस्तित्व समाहित रहता है। भगवान् कृष्ण ने जो कुछ गीता में गाया है प्रकृति के बन्धनों से परे की स्थिति में पूर्ण आत्मभाव में स्थित हुई दशा में कथन किया है। आत्मा की शक्ति का पारावार नहीं। अनन्त ब्रह्माण्ड के निर्माण में इसका प्रदर्शन प्रत्यक्ष है।

गीता १३।१२, १३, १४ में इसका वर्णन भगवान ने इस प्रकार किया है—ब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है। परन्तु वह सब ओर से हाथ 'र वाला एवं सब ओर से नेत्र सिर और मुख वाला तथा सब ओर से श्रोत्र वाला है, क्योंकि वह सबको व्याप्त करके (आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि जल और पृथ्वी का कारण रूप होने से उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारण रूप होने से संपूर्ण चराचर जगत को व्याप्त करके स्थित है) स्थित है और संपूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से (जो नाशवान हैं) रहित है तथा आसक्ति रहित और गुणों से अतीत हुआ अपनी योग माया से सबको धारण पोषण करने वाला और गुणों को भोगने वाला है।

३. आत्मा के इस स्वप्रकाश ज्योतिष्मय सर्वज्ञ स्वरूप की स्थिति में स्थित होकर भगवान् कृष्ण का अर्जुन से यह कथन भी हुआ है कि 'इन सब जन्मों को मैं जानता हूँ तू नहीं जानता।' प्रकृति के बन्धन में पड़ा हुआ देह रूप में कृष्ण नहीं किन्तु शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मतत्त्व में पूर्णतः स्थित ब्रह्म रूप में लय हुआ।

४. चौदहवें अध्याय के अन्त में श्लोक २७ में भी इसी प्रकार की घोषणा की है यह प्रगट करके कि उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्य धर्म का और अखण्ड एक रस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ—अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत धर्म तथा एकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम है इसलिए मैं इनका परम आश्रय हूँ।

५. इसी प्रकार पन्द्रहवें अध्याय के १२ से १८ पाँच श्लोकों में अपने ब्रह्म भाव को दर्शाते हुए भगवान ने कहा है :—

हे अर्जुन जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो अग्नि में है उसको तू मेरा ही तेज जान ! मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रस स्वरूप अर्थात् अमृत मय चन्द्रमा होकर संपूर्ण औषधियों का अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ, तथा मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चारों प्रकार (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चौष्य जैसे

रोटी, दूध, चटनी और ऊख) के अन्न को पचाता हूँ, और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मेरे से ही स्मृति ज्ञान और अपोहन बुद्धि में रहने वाले संशय, विपर्यय आदि दोषों को (विचार के द्वारा हटाना) होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ। इस संसार में नाशवान और अविनाशी भी दो प्रकार के पुरुष हैं, शरीर नाशवान और जीवात्मा अविनाशी। इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है अतः अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा ऐसे कहा गया है। क्योंकि मैं नाशवान जड़ वर्ग से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

६. यह परम भाव ही भगवान् कृष्ण के अवतारित्व का प्रबल प्रमाण है। संसार के सिद्ध अनुभवियों के वाक्य केवल ब्रह्मानन्द स्थिति की प्राप्ति तक ही सीमित रह जाते हैं। इससे भगवान् के अवतार रूप में कहे हुए वाक्यों को क्या क्षति पहुँच सकती है। पूर्णतः ब्रह्मलीन अवतारी देह रूप में प्रगट आत्मा ही इस संकल्प शिखरता पर पहुँचे हुए आसन से ऐसी सत्य घोषणा करने के समर्थ है। श्रद्धावान् को इस और ऐसे वाक्यों के तात्त्विक मनन के उपरांत शंका के लिए कोई स्थान नहीं रह जाना चाहिए।

श्री कृष्ण चैतन्य प्रभु नित्या नन्दा,
हरे कृष्ण गोविन्द माधव मुकुन्दा ॥

अच्युतं केशवं राम नारायणं, कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरे।
श्रीधरं माधवं गोपिका-वल्लभं, जानकी नायकं रामचंद्रं भजे ॥

(४२)

**मन डूबे हुए कार्य में थकावट प्रकृति माता
की चेतावनी ही होती है कि कहीं दिनचर्या
एवं आचरणा में भूल हो रही है ।**

प्राकृतिक नियमों की ओर जितना-जितना मनुष्य बढ़ता जाता है प्रकृति माता उतनी-उतनी ही शरण में आए हुए व्यक्ति की रक्षा करने में लग जाती है। माता की अनुकम्पा द्वारा उसमें ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव धीरे-धीरे बढ़ता रहता है जो उसको छोटी से बड़ी बेचैनियों की चेतावनियों द्वारा उनके मूल कारण व कारणों के तात्त्विक निरीक्षण में बड़ी सहायक रहती है।

आनन्द आत्मा का लक्षण है। जिस काम में अतिशय आनन्द का अनुभव निरन्तर होता रहे उसको थकावट का कारण मानना भूल है। इसमें आसक्ति सीमा से परे होते ही मन पर अपना विपरीत प्रभाव डाले बिना न रहेगी। माता की चेतावनी वहाँ भी न चूकेगी। अतः इस ओर से ध्यान हटा कर थकावट के कारण स्थान को अपनी दिनचर्या एवं आचरण में ढूँढ़ने में लग जाना बुद्धिमानी है। माता की प्रदान की हुई शक्ति द्वारा इस काम में सफलता दुर्लभ नहीं रह जाती।

जितनी-जितनी शरीर व अन्तःकरण की मलिनता संयम के दृढ़ अभ्यास द्वारा कटती जाती है उतनी-उतनी ही बेचैनियों का रूप स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता जाता है। शारीरिक थकावा अथवा किसी अंग में दर्द, ज्वर इत्यादि ये सब स्थूल रूप लिए होते हैं। इनसे मलिनता की घोरता प्रकट होती है। सूक्ष्म रूप धारण की हुई बेचैनियाँ इस प्रकार की हैं—आलस्य, निद्रा प्रकोप, स्वप्नों की भरमार, मल-मूत्र त्याग में चैन का अभाव, जिह्वा का स्वाद अमिष्ट, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, आशंकित

मन, इत्यादि ।

सबसे पहले तो आहार की भूलें इसमें दोषी रहती हैं । इन चिह्नों के कारणों को निरीक्षण द्वारा ढूँढ़ते रहने से सफलता मिलती है और व्यक्ति स्वास्थ्य में उन्नति की ओर बढ़ता रहता है । भगवान ने गीता १५।१४ में कहा है मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ । अपने आराध्य देव को कष्ट न पहुँचे इस हेतु इतना और ऐसा ही भोजन करना चाहिए जो सुखदायक हो ।

अन्य चेष्टाओं के विषय में ६।१७ में उपदेश है कि दुःखों का नाश करने वाला योग यथा-योग्य आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है ।

किसी मनुष्य के लिए क्या योग्य उसकी किस परिस्थिति में रहता है इस पर निरन्तर ध्यान जमाए रखने से ही स्वास्थ्य रक्षा के मार्ग पर माता की अनुल दया एवं कृपा द्वारा प्रकाश पड़ता रहता है । वृद्धावस्था में विशेष कर जब जीवन के प्रौढ़ावस्था की असावधानियों से शरीर की जर्जरता बढी हुई होती है स्वास्थ्य बनाए रखना कठिनाई पूर्ण रहता है । प्राकृतिक नियमों में श्रद्धा, पुरुषार्थ और परमेश्वर कृपा के लिए प्रार्थना द्वारा बेड़ा पार होते रहने की आशा में मनन शील पुरुष को लगे रहना चाहिए । जो कुछ इस मार्ग में कष्टों का सामना करना पड़ता है उनको तप रूप समझ कर धैर्य पूर्वक सहन करने से योग पूरा होता है ।

आजकल के विषमता युक्त युग में जब खाद्य पदार्थों की इतनी न्यूनता प्रचलित है भोजन के सदा से अनुभव में आए हुए उपकारी नियमों में परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है । वृद्धावस्था में अनेक कठिनाइयों का एक यह भी मुख्य कारण बना रहता है । संयम नियम इसको भी पार कर जाने में सहायता देता है । 'जिस विधि राखे राम' मंत्र की स्मृति संताप को हरे रहती है ।

[पद पृष्ठ १६५ पर]

यज्ञ कार्य में स्वान्तः सुख और शान्ति की अनुभूति ही उसकी प्रेरक बनी रहती है ।

‘मैं अपने दान भर मूल्य की सब पुस्तकें ले जा कर क्या करूँ, मेरा विचार तो केवल अपने लिए एक ले जाकर सब यहाँ ही छोड़ जाने का हुआ था । पिताजी ने कहा कि तीन चार तो लड़के लड़कियों को भेज देना सो भेज दूँगी; यह सही है कि भाषा सरल है, पढ़ने में मन लगता है, विषय भी रोचक रहते हैं, पर कोई पढ़े तब तो आजकल का रुख तो ऐसा है कि किस्से कहानियों की पुस्तकों की माँग के आगे दूसरी पुस्तकों की ओर निगाह भी कोई नहीं डालता । नेहरू जी ने एक विशाल भवन बनवाकर गांधीजी की और उनसे सम्बन्धित सब कृतियाँ रखीं कि जनता उन विचारों से लाभ उठावे । अधिकारी जन बताते हैं कि दो व्यक्तियों का औसत भी तो पाठकों का नहीं पढ़ता । आप लेखों के खण्ड इतने लोगों को भेजते रहते हैं कितने पढ़ते हैं । एक धन कुवेर ने अपने इष्टदेव की कीर्ति जगत में फैलाने की अभिलाषा से उनकी जीवनी तैयार कराने में धन राशि लगा दी । पुस्तकें पड़ी-पड़ी जब सड़ने लगीं तो बिना मूल्य संस्थाओं को भेज देने की दूसरी धन राशि लगाई । भगवान-कृष्ण-चरित्र माला एक अनन्य भक्त ने बड़े उत्साह एवं परिश्रम करके बनाई और धनिकों का धन लगवाया । दीर्घकाल तक माला की निकासी न होने पर हतोत्साहित होना पड़ा । इत्यादि”

इन तथा इसी प्रकार के विचारों की प्रतिक्रिया में :—

स्थिति की गम्भीरता जितनी-जितनी दृष्टि के सामने आती जाती है, सात्त्विक धृति वाले कार्यकर्त्ता के साहस में भगवान प्रेरक बनकर उतनी ही वृद्धि उत्पन्न करते रहते हैं । यदि ऐसा नियम न होता तो संसार में

त्यागी महान् अवतारी पुरुषों की उत्पत्ति रुकी रहती । दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ सदृश महान् आत्मायें कन्दराओं में बैठे आत्मोन्नति में ही जीवन बिता देते । संसार चक्र तो जैसा है वैसा सदा से चलता आया है और चलता रहेगा । वेद भगवान् सृष्टि की आदि से ब्रह्मा जी ने प्रदान किए, किन्तु संसारी चक्र को पलट नहीं सके । भगवान् की लीला से विषयों का आकर्षण इतना प्रबल है कि आसुरी प्रकृति की भरमार दुनिया से उठ नहीं सकती । संसार के अस्तित्व के लिए भगवान् ने यह आवश्यक ही रखा होगा, अपितु स्वर्ग ही देवताओं से भरा रहकर भूलोक खाली हो जाता ।

मनुष्य जो कुछ करता है स्वान्तः सुख की अभिलाषा में ही वह होता है । तामसी वृत्ति वाले पुरुषों को तामस कृतियों में ही प्रारम्भिक अनित्य सुख चैन व्यापता है, फिर चाहे उससे उत्पन्न दारुण दुखों के अनुभव से अन्त में उनकी दृष्टि उस ओर से क्यों न फिरने लगे । ज्ञानी का लक्ष्य परोपकार समझना निरी सत्य बात नहीं और न पापी का दूसरों को दुःख देने का । अपने-अपने मार्ग की प्रगति में जिस-जिस का हित अथवा अहित उनके कर्मों द्वारा बनता रहे उन्हें वही अभीष्ट रहता है । ऐसे विचाराश्रित पुरुष को निर्द्वन्द्वता साधे रहती है । उसका परिणाम से सम्बन्ध टूटा रहता है, इसका विचार तो वह परमेश्वर के चरणों में अर्पित कर स्वतंत्र हो जाता है ।

पूर्व संस्कार अथवा इस जन्म के सत्संग एवं अभ्यास द्वारा जितना-जितना आत्मवल का संचार हृदय में होता जाता है उतनी-उतनी ही त्याग और तप के लिए वृत्ति में वृद्धि द्वारा अनुभव से नित्य सुख की अनुभूति । यही सुख महात्मा ईसा से लगाकर देशभक्त नेहरू तक को—सूली पर तथा कारावास की अवस्था में अनेक प्रकार के घोर कष्ट दायक कोठरियों में शान्त बनाए रखने में समर्थ रहा है ।

‘सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि’ गीता ३।३३; इस नियम के अन्तर्गत परोपकार लक्ष्य की भावना प्रेरक रूप में सत्य नहीं उतरती ।

ज्ञान प्राप्ति की एवं विस्तृत प्रचार द्वारा उसको ‘घर घर’ पहुँचाने भर की अथक चेष्टाओं में समाहित निरंतर सुख और शान्ति की अनुभूति

ही सात्त्विक कर्त्ता की निधि रहती है उसका अन्य तथ्यों से प्रयोजन छूटा हुआ रहता है ।

आधुनिक युग प्रचार का है । इसके लिए बड़े-बड़े साधन उपस्थित और उपलब्ध हैं । ऊसर भूमि में भी सौ पचास बीज बखेरने से एक दो के जम जाने की दूरस्थ आशा में भी स्वान्तः सुख का अंश बना रहता है । जब इस आशा-प्रेरित परिश्रम में थकावट का अभाव रह कर शान्ति ही शान्ति का अनुभव हो तो मनुष्य के लिए क्या भिन्नक रह जाती है ।



तुम तजि और कौन पै जाऊँ ।

का कै द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाऊँ ॥

ऐसे को दाता है समरथ जाके दिये अघाऊँ ।

अन्तकाल तुम्हारे सुमिरन गति, अंत कहूँ नहिं धाऊँ ॥

दीन सुदामा कियो अयाची, दियौ अभय पद ठाऊँ ।

कामधेनु, चिन्तामनि दीन्हौ, कल्प वृच्छ-तर छाऊँ ॥

भव समुद्र अति देखि भयानक, मनमें अधिक डराऊँ,

कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाऊँ ॥

(पृष्ठ १६२ का पद)

जा दिन दरस तुम्हारे पाऊँ ॥

असुअन की माला डालूँ, असुअन स्नान कराऊँ ॥

युग युग के प्यासे नयनन की, दर्शन प्यास बुझाऊँ ॥

हृदय आसन पर कहेँ सुशोभित, आतम दीप जलाऊँ ॥

सकल ताप सन्ताप विकलता, वन 'विदेह' विसराऊँ ॥

(पृष्ठ १६७ का पद)

प्रभु सुनो विनय हमारी, कृपा वारी ॥

इस जग में सुम्मति तुमही, मौको कभी न विसारी ॥

धर्म कर्म अब मौसे होवें, रहो सदा सहकारी ॥

मन मेरो उपकार में लागे, दे सब पाप निकारी ॥

भक्ति प्रेम अटल मैं पाऊँ, गाऊँ महिमा तुम्हारी ॥

तन मन धन तेरे अर्पण होवे, जीवन हो फलकारी ॥

स्थिर वैराग्य की परम प्राप्ति के अभिलाषी की प्रयत्नशीलता में राजस भोगों के परिणामस्वरूप कष्टों एवं दुःखों को तप रूप में धैर्य साहस और और श्रद्धा सहित सहते रहने की अनिवार्यता

व्यक्तिगत इच्छाओं की दासता सबसे अधिक दुःखदायी है। अखण्ड सुख के अनन्त मंगल मार्ग पर चलने वाले को आत्मा के आनन्द का अमृत पान करके नश्वर विषय भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए।

वस्तुओं के त्याग को वैराग्य नहीं कहते, उनके विकारों के त्याग का नाम वैराग्य है। आन्तरिक सुख-शान्ति की परम प्राप्ति की धुन में विषय विकारों से छूट जाना सच्चा वैराग्य है।

उत्तम ज्ञान वह है जो ऐसी निवृत्ति का मार्ग दिखाकर उस पर चलने का बल देता है। ज्ञान का जान लेना पर्याप्त नहीं है, जानकर आचरण में लाने से ही परम सिद्धि मिलती है।

स्वभाव की परीक्षा करके निर्वलता और त्रुटियों रूपी रोग को पहचान कर उसका यथोचित उपचार सरलता पूर्वक ही होना चाहिए।

प्राकृत स्वभाव पड़ जाने पर निग्रह काम नहीं देता। निग्रह का अर्थ हठ अथवा जबरदस्ती है। जप-तप, भक्ति, सदाचार, सात्विक भोजन, पवित्र विचार, सत्संग, नियम और संयम द्वारा धीरे-धीरे स्वभाव सुन्दर बनता है। दीर्घकाल तक सुचारु रूप से संयम और साधन किए बिना स्वभाव का बदलना संभव नहीं। केवल निरन्तर अभ्यास करते-करते स्वभाव का रूपान्तर हो सकता है। निग्रह जब स्वभाव में भर जाता है

तब विषय विकारों से छुटकारा मिलता है ।

इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब राजस भोग निःसन्देह कष्ट और दुख के ही हेतु होते हैं । ५-२२ । साधना काल में इनको तप रूप में सहते रहना साधक का परम कर्तव्य है ।

व्यवहारिक भाषा में कष्ट सहने को तप कहते हैं । राजस भोगों के तापों को प्रसन्नता पूर्वक सहना और कर्तव्य कर्म में लगे रहना तप कहलाता है । तप से जीवन निखरता है, शक्ति बढ़ती है, कार्य में उत्साह बना रहता है और परिस्थितियों पर विजय पाने का बल मिलता है । शरीर और मन की साधना से तप पूर्ण होता है ।

सब प्रकार की निर्बलताओं को दूर करने का एक मात्र साधन तप है । आनन्द का जीवन, सत्य शिव और सुन्दर जीवन, प्रकाश पूर्ण सब प्रकार संतुलित और युक्त जीवन जीने के लिए तत्त्वदर्शी मनीषी जनों ने तप की खोज की है । तप वह है जिसमें शक्ति संचय हो । तप का अर्थ शरीर और आत्मा को कष्ट पहुँचाना नहीं है, वरन् कष्ट सहन के लिए उन्हें शक्तिशाली बनाना है । शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास उनका आध्यात्मीकरण अथवा दिव्य रूपान्तर तप का प्रधान ध्येय है ।

ज्ञान पूर्वक प्रयत्न, क्रमबद्ध नियमित और संयमित कर्म और कठोर अभ्यासों का परिणाम ही सात्त्विक सुख का दाता है । चित्त की चंचलता और इन्द्रियों के असंयम होने के कारण मन निश्चय तोड़ देने का प्रयत्न बराबर करता है । ऐसे समय में धैर्य से सहारा और शक्ति मिलती है ।

ज्ञान सहित श्रद्धा से जब कर्म स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं । श्रद्धा-पूर्वक परमेश्वर के स्मरण से दुःखी के दुःख दूर होते हैं । सद्गति का मूल मंत्र श्रद्धा है । श्रद्धा और शास्त्र विधि दोनों का जहाँ योग हो जाता है वहाँ सब कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं । कर्तव्यनिष्ठ स्वभाव बन जाने पर प्रत्येक कर्म में सुख मिलना है । इस दृढ़ निश्चयपूर्ण श्रद्धा से साहस में वृद्धि होती रहती है और साधक का मार्ग सुगम हो जाता है ।

[पद पृष्ठ १६५ पर]

शेष पद-पृष्ठ ७० का यहाँ

ऐसा मुझे तन दो प्रभो, निरोगी हो जो पुष्ट हो ।
 फल फूल खाकर भी सदा, सर्वत्र जो संतुष्ट हो ॥
 ऐसा मुझे सिर दो प्रभो, झूबे न निज सम्मान में ।
 ऊँचा रहे जो सर्वदा, नत हो तुम्हारे ध्यान में ॥
 ऐसा मुझे मुख दो प्रभो, बोले सदा जो नेम से ।
 जो आपही के नाम की, माला जपे अति प्रेम से ॥
 ऐसे मुझे दो नेत्र दो, जिनमें दया की पूर्ति हो ।
 जिनमें बसी वह मोहनी, बस आप ही की सूरति हो ॥
 ऐसे मुझे दो हाथ दो, सामर्थ्य जिनके साथ हो ।
 असहाय अबला त्राण का, दृढ़ ध्येय जिनके साथ हो ॥
 देदो यही बर एक जो, इतना न दे सकते कहीं ।
 यह स्वांग भर कर आप से, मैं भीक फिर माँगूँ नहीं ॥

दो पद-पृष्ठ ७५ के यहाँ

(भैरवी)

रचा प्रभु तूने यह ब्रह्माण्ड सारा,
 प्राणों से प्यारा, तू है सब से न्यारा ।
 तूही भाई बन्धु, तूही जगत जननी,
 सकल जगत में, एक तेरा ही सहारा ॥

(यमन)

रे प्राणी जपिए नाम ओंकार,
 निराकार, निर्भय, निरंजन,
 पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी ।
 माधो मधु सूदन बनवारी,
 बामन रूप धरे,
 जगन्नाथ जगदीश निरंजन
 सरस सरस गुण गा ॥

पद-पृष्ठ ८० का यहाँ

सब देशों में मशहूर प्रार्थवर्त कहाता है ॥
 जितनी विद्या सारी, भई भूमण्डल में जारी,
 हुआ सबका यहाँ से जहूर, हमें इतिहास बताता है ।
 यूरोप के फिलोसोफर भारे, कहते यह शब्द पुकारे,
 प्रभुजी विनय करो मंजूर, हो प्रार्थवर्त में जन्म
 मैंसमूलर फरमाता है ॥

(गजल)

प्यारा वतन हमारा ॥

मोहसिन है महरवां है सारे जहाँ की जां है,
 आओ भुकायें सरको, भारत हमारी माँ है ॥१॥
 प्यारा वतन हमारा, जाने जहाँ हमारा,
 हिन्दोस्तां हमारा, जन्त निशां हमारा ॥२॥
 वीरान में घर अपना, यों मुद्दतों बसेरा,
 जब सर पै आसमां था, बस साथवां हमारा,
 इन जङ्गलों में गर हम, गुलकारियां न करते,
 जन्त निशांन बनता, हिन्दोस्तां हमारा ॥३॥
 आकर बसे हम इसमें, और इसको भी बसाया,
 हिन्दोस्तां के हम हैं, हिन्दोस्तां हमारा ॥४॥ प्यारा०
 मजहब नहीं सिखाता, आपस में बँर करना,
 हिन्दू ही हम वतन हैं, हिन्दोस्तां हमारा ॥५॥
 फरजन्दे औवले है, हम मादरे वतन के,
 है यह ज़मी हमारी, यह आसमां हमारा ॥६॥
 इस कसरे दिल कुशा की बुनियाद हमने डाली,
 हर संग व खिश्त पर नामो निशां हमारा ॥७॥
 जब शर्क व गर्व में था तूफाने जंग वरया,
 गुजरा समुन्दरो में वेले रवां हमारा ॥८॥
 फजले खुदा पर हर दम, यह आंख लगी रही है,
 अवरे करम है उसका, रोजी रसां हमारा ॥९॥ प्यारा०

मोहसिन = प्राचीन, जन्त = स्वर्ग, फरजन्द = पुत्र, औवले (अवल).
 संग = पत्थर, खिश्त = ईंट, शर्क = पच्छिम, गर्व = पूर्व,

पद-पृष्ठ १०७ का यहाँ

(झिझौटी) ओंकार भजो अहंकार तजो, पछतावो नहीं जो भई सो भई ॥
 पर का दुःख देख सहाय करो, बिगरे नहीं धर्म उपाय करो,
 करनी शुभ अवसर पाय करो, अब तो तुम नींद लई सो लई ॥
 अविचार अनीति तजो मन से, मदमस्त रहो मत योवन से,
 उपकार करो तन मन धन से, इतनी वय बीत गई सो गई ॥

सम्मतिथाँ

(अनुक्रमानुसार)

(क) संन्यासी एवं अन्य महापुरुष वर्ग

(१) लेख बाँचकर प्रसन्नता को प्राप्त हुए । लोक सेवा जैसा नाम है वैसे ही इन पत्रों द्वारा लोगों की सेवा आपकी ओर से हो रही है । आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है । आशीर्वाद है कि आपके मनोभाव की वृद्धि हो, शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

नृसिंहगिरि स्वामी

महा मण्डलेश्वर, अध्यक्ष संन्यास आश्रम, गीता भवन, दिल्ली

(२) विषय का स्पष्टीकरण विल्कुल तार्किक है, तथा उपदेश पूर्णतया क्रियात्मक, इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में आपने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये हैं उस पांडित्य से इन लेखों का रूप और भी निखर आया है । मेरा विचार है कि इन पत्रों से हमारे आधुनिक शिक्षित युवक व युवतियों का प्रारम्भिक अवस्था में बड़ा हित होगा, जो वास्तविक अध्यात्मवादके ज्ञान व उसकी शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु जो धर्म समाज में प्रचलित है उसके प्रति लजाते हैं । अभ्यास केवल सभी सत्य की खोज करने वालों के लिये एक चुनौती भी है । 'क्रोध रहित क्रोध' और 'स्वधर्म' निश्चित करने के सिद्धान्त पर आपके लेख वास्तव में प्रकाश देने वाले हैं । मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि पत्र पुस्तक के रूप में निकल रहे हैं । मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्यात्म जीवन के वास्तविक इच्छुक व्यक्तियों की उत्साह वृद्धि में ये अवश्य ही सहायक होंगे । मैं आशा और प्रार्थना करता हूँ कि गीताप्रेस से पुस्तक को प्रकाशित कराने के आपके प्रयास सफल होंगे..... मैं तो केवल आप तथा अन्य बहुत से लोगों के साथ इस शान्तिपूर्ण इच्छा और प्रार्थना में ही सम्मिलित हो सकता हूँ कि आपके विचार पुस्तक के रूप में सब लोगों के समक्ष आवें ।

प्राणानन्द स्वामी

श्रीरामकृष्ण मिशन कानपुर

(ख) अधिकारी वर्ग

(३) इन लेखों का संकलन एक उपयोगी पुस्तक होगी । मैंने इनको बड़ी रुचि और प्रसन्नता के साथ पढ़ा । आपके विचार साधारण जीवन के मार्गों में पड़ने वाली

विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का समाधान करते हैं। आपके दीर्घ और उपयोगी जीवन की कामना करता हूँ। आपके विचार पूर्ण एवं उत्तेजनात्मक लेख बहुत सी समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं जो हमें घेरती रहती हैं और जिनके लिए देवी प्रकाश की आवश्यकता होती है।.....सीकर(जो हममें से एक है)के विचार सरलता पूर्वक समझे जा सकते हैं। आपने मेरे तुल्य असमंजस में पड़े हुए अर्जुनों को अपने विचारों को मुद्रित कराकर लाभ पहुँचाया है। यदि ये लेख एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हों तो लोग इनसे लाभान्वित होंगे।.....में अपने समान अनभिज्ञ पाठकों की ओर से अपने ज्ञान के बड़े पुंज से हमारी समस्याओं पर प्रकाश डालने पर आप को धन्यवाद देता हूँ।.....मेरे निश्चय से जनता का अधिकतम संख्या में अधिकतम श्रेय होना चाहिए, इसलिए दूसरे लोगों को भी इन लेखों से यथाशक्ति लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते रहना उचित है। मैं पुस्तक की जो मुद्रणालयमें है उत्कण्ठा पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ। यह पुस्तक वृद्धपुरुषों की भी सेवामें लग सकती है। मुद्रणालय के अधिकारियों को ज्ञात होना चाहिए कि वृद्ध लोग इससे लाभ उठाने के लिये कदाचित् अधिक जीवित न रहें, यदि इसके प्रकाशन में विलम्ब होगा।

वृजविहारी लाल माथुर

रिटा० जज, वृजघाम, २ वी मिन्टो रोड, इलाहाबाद

(४) यह मेरा सौभाग्य है कि धार्मिक और भक्तिपूर्ण प्रसंगों पर श्री 'सीकर' के विद्वतापूर्ण विवेचन और लेख मुझे प्राप्त हुए। उनमें जिन विचारों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे गहन अध्ययन विस्तृत खोज और पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तियों के सम्पर्क के फलस्वरूप ही हैं और वे स्पष्ट एवं सरलता से समझ में आने वाले रूप में प्रकट किये गए हैं। लेख जब पुस्तक के रूप में प्रकाशित होंगे तो धार्मिक वृत्ति वाले पुरुषों और स्त्रियों के लिए वह एक ऐसा छोटा ग्रन्थ होगा, जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता रामायण और अपने सन्तों और दार्शनिकों की शिक्षाओं सहित अपनी समस्त धार्मिक पुस्तकों का निचोड़ होगा।

मैं श्री सीकर जी को बधाई देता हूँ कि उन्होंने धर्म और भक्ति युक्त ज्ञान के फैलाने व उसके अभ्यास करने के सहायनीय कार्य को अपनाया है। अपने सरकारी जीवन से निवृत्त होकर अवकाश और आराम के समय का सदुपयोग कर रहे हैं तथा निम्न के सांसारिक निम्न प्रकृतिजन्य कार्यों से अपने को अलग रखे हुए है ?

सूर्यदीन बाजपेई

भूतपूर्व उप सचिव अर्थ विभाग, उत्तर प्रदेश व मध्य भारत

(५) गीता के ऊपर आपके ये लेख वास्तव में बहुत शिक्षापूर्ण हैं। मैंने इन्हें बहुत ही उपयोगी पाया। गीता के उपदेशों को ये स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। ... गीता-धर्म का प्रचार मानवता की एक बड़ी सेवा है। गीता का अध्ययन और उसे भली प्रकार समझना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है और इससे भी अधिक इस बात की आवश्यकता है कि अपने नित्यप्रति के जीवन में इसके उपदेशों का पालन किया जावे। कोरा ज्ञान, वह चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो किसी काम का नहीं; लेकिन इसमें जिस प्रकार के जीवन यापन का उपदेश है उसके अपनाने का किंचित् मात्र अभ्यास भी किसी के जीवन में भारी परिवर्तन ला सकता है। श्रीमद् भगवद्गीता में हिन्दूधर्म का सार निहित है। उपनिषदों की शिक्षाओं का यह निचोड़ है और इसमें विभिन्न भारतीय दर्शन शास्त्रों का सुन्दरतापूर्वक सूक्ष्मता के साथ गहन वर्णन है। तदनुसार यह आवश्यक और अनिवार्य है कि भगवद्गीता के उपदेशों एवं सिद्धान्तों का इतनी व्यापकता के साथ प्रचार किया जाय जितना हो सके। ऐसे प्रयत्न में मनुष्यमात्र की बहुत बड़ी सेवा होगी। इस पुस्तक का प्रकाशन गीता के सिद्धान्तों के व्यापक प्रतिपादन करने में एवं जनता को उसके वास्तविक अर्थ आसानी से समझने योग्य भाषा में प्राप्त करने में एक बहुत बड़ी सहायनीय सेवा होगी। मुझे आशा है कि वे लोग जो वास्तव में मानसिक शांति की सच्ची खोज में हैं, इस पुस्तक के पढ़ने से पर्याप्त लाभान्वित होंगे। मैं लेखक को इस पवित्र कार्य के लिए, जो उन्होंने मनुष्य मात्र के लिए उठाया है, बधाई देता हूँ।

एम० जी० विजावत

(अनुवादित) आई० एस० ई (रिटा०) एम० आई० ई० प्रो वाइस चान्सलर
हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

(६) लेख मिले। बहुत ही कृतार्थ किया। ऐसे सद्बचन सदैव मिलते रहें तो मनुष्य का जीवन कुछ से कुछ हो जावे, बहुत सी शंकायें मिट जायें। आपके प्रेम तथा आशीर्वाद का सदा आभारी रहूँगा कि आप अपनी इस अमृत वर्षा से मुझे अनुग्रहीत करते रहते हैं।

वृजमोहन सिंह

अवकाश प्राप्त अभियन्ता सिचाई, उत्तर प्रदेश

(७) लेखों को पढ़कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। अनेक प्रमुख धर्मवेत्ताओं, दार्शनिकों और विद्वान पुरुषों के द्वारा भी गीता के ऊपर इस प्रकार के स्मरणीय

लेखों द्वारा विवेचना हुई है, लेकिन सीकर के लेखों में अपना एक विशेष आकर्षण है। ये २०वीं शताब्दी के नवयुवकों के लिए साधारण भाषा में लिखे गए हैं जिसे वे समझते हैं। अपने पुत्र पुत्रियों, निकट सम्बंधियों एवं मित्रों ने गीता के सम्बन्ध में जो प्रश्न उनसे किए उन्हीं के फलस्वरूप इन लेखों का सृजन हुआ। गीता के कुछ अंशों को समझने में मुझे कुछ कठिनाई हुई थी। उन्होंने बड़े स्पष्टरूप से उसकी व्याख्या की और मुझे प्रसन्नता है कि उनका समावेश भी इन लेखों में कर लिया गया है। मुझे विश्वास है कि सभी इन लेखों को पसन्द करेंगे। मैंने जो अब तक पढ़ा है वह बहुत सुन्दर है। आपने इन्हें मुद्रित कराकर सराहनीय कार्य किया है। अब अधिक लोग इनसे लाभ उठा सकेंगे। पढ़ने में बहुत ही रुचिपूर्ण है और सुन्दर हैं और इनके लिए मैं आपका बहुत ही आभारी हूँ। ये पत्र बहुत ही विचार पूर्ण और भली प्रकार लिखे गए हैं। आपने पर्याप्त अध्ययन किया है और बहुत अच्छा लिखा है। उसके लिए हार्दिक बधाई। सत्संग के ऊपर आपने जो विवेचन किया है उसके लिए अत्यन्त आभारी हूँ। गीता के १२/१२ पर आपके विद्वत्तापूर्ण लेख व आपकी बहुमूल्य समालोचना के लिए बहुत बहुत धन्यवाद।

(अनुवादित) महावीर प्रसाद

सी० आई० ई० रिटा० चीफ इन्जीनियर (उत्तर प्रदेश)

(८) श्री मद्भगवद्गीता के गहन और कठिन प्रसंगों का आपने जिस सरल और स्पष्टरूप में वर्णन और व्याख्या की है उसने हमें बहुत ही प्रभावित किया है। आपके लेख निश्चय ही प्रत्येक निराश व्यक्ति के इस भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के सही रूप को समझने एवं मानसिक शांति एवं प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए जीवन के सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनाने में सहायक होंगे,

बी० एस० माथुर

(अनुवादित) रिटा० सुप० इन्जीनियर एवं डिप्टी डवलपमेंट कमिश्नर (यू० पी०)

(९) डापका भेजा हुआ साहित्य मैंने पढ़ा—बड़े उत्तम और उच्च विचार हैं। मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं आपको उच्च आत्माओं में से एक पाता हूँ, कभी-कभी मेरे लिए कुछ साहित्य सामग्री भेजते रहा करें। उपदेशों से मुझे लाभ होता है। पत्र पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। हृदय में इच्छा होती है कि आप के साथ रहकर कुछ प्राप्त करूँ और जीवन सफल करूँ।

दिलीप सिंह मित्तल

अवकाश प्राप्त अभियन्ता

सिंचाई विभाग, उत्तर प्रदेश

(१०) लेखों को मैंने पढ़ा, बहुत पसन्द आए। बहुत गम्भीर विषय अत्यंत स्थूल ढंग से लिखे हैं। उनको जितना अधिक पढ़ा जावे कम ही होगा। परन्तु अधिक से अधिक लोगों को इनसे लाभ मिलना चाहिए। इनकी प्रशंसा में कुछ कहते नहीं बनता। शास्त्रों का धर्म निज के अनुभवों से मिलकर सोना और सुगन्ध के समान है।

महावीर प्रसाद टंडन

इलाहाबाद

(ग) शिक्षक वर्ग—अनुक्रमणिका

(११) इन लेखों में मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को सद्-विवेक की ओर अग्रसर करते हुए भौतिक जीवन सुधारने का सुन्दर प्रयास किया गया है। ये लेख सुगम और सहज भाषा में लिखे गए हैं। इनके पढ़ने में मुझे आनन्द आया और कुछ सोचने तथा सीखने को मिला। श्री सीकरजी ने स्वदेश के उत्थान तथा नवयुवकों में चारित्रिक सुधार लाने के लिए देश में उपस्थित संकट के समय की मांग के अन्तर्गत कुछ चेतावनियाँ दी हैं जो देश प्रेम की भावना से ओत-प्रोत तथा अनुकरणीय हैं।

बलराम प्रसाद (आर्य्य) 'पराग'

अध्यापक एरछ (झाँसी)

(१२) इस लेख माला का अध्ययन व मनन करने पर उलझी हुई गुस्थियाँ सुलझने लगती हैं। भौतिक आध्यात्मिक मूल्यों का संतुलित ढंग से प्रतिपादन इस लेख माला की विशेषता है। अब शीघ्र ही इस का पुस्तकाकार में प्रकाशन आवश्यक हो गया है जिससे तर्हण भारत भी असंदिग्ध मार्ग पर चल कर श्रेय की प्राप्ति सुगमता से कर सके। महात्मा तुलसीदासजी भी ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'सीकर से त्रैलोक्य सुपासी' अर्थात् परमात्मा साधारण प्रारंभ से भी असाधारण कार्य कर सकता है।—प्रकाशित लेखों में नित्यप्रति हृदयों में उठे हुए विचारों पर गवेषणा की है और उनका समाधान गीता द्वारा किया गया है। इन विचारों में पुराने तथा नवीन सामाजिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। सब ओर से मन्थन करने पर उसका सम्बन्ध गीता के किसी न किसी सूत्र से जुड़ जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि जो विचार सम्बन्धित लोगों के लिए ही उपयोगी समझे जाते थे वे बहुजन हितार्थ हो कर रहें। जनसाधारण को ऊँचा उठाने का प्रयत्न हर लेख और विचार द्वारा होता है। विभिन्न लेखों की शैली भी भिन्नता लिए हुए है। कहीं प्रश्नोत्तर, कहीं शंका समाधान, कहीं जिज्ञासा समीक्षा के रूप में

वह प्रगट हुई है। विचारों के प्रकाशन में सभी प्रकार का समावेश है चाहे वह अध्यात्म संबंधी हो चाहे अधिभूत संबंधी चाहे गृहस्थ सम्बन्धी चाहे नित्यप्रति से सम्बन्धित। वर्तमान समस्याओं सम्बन्धी बातों का भी समावेश इस संग्रह में हुआ है। जो महाभारत में नहीं है वह और कहीं नहीं है ऐसी पुरानी उक्ति है। इसके अनुसार गीता महाभारत की गोद में तथा यह संग्रह गीतामाता की गोद में है। परन्तु विषय का प्रतिपादन नवीनता लाता ही है। उसे मौलिक की भाँति अध्ययन किया जा सकता है। विषय की गहनता को भाषा की सरलता में ग्रहणीय बनाया गया है। इस प्रकार दुर्बुद्धता को ऋजुता में परिणत होना पड़ा है। पुस्तकाकार होने तक लेखों की भाषा में सरलता और प्रवाह दोनों ही बढ़ गए हैं।

केशवदास बख्सी
एरछ (शांसी)

(१३) आप का गीता सम्बन्धी साहित्य प्राप्त करके मुझे अधिक प्रसन्नता हुई है। आज गीता का कर्मयोग ही वस्तुतः जीवन की उलझनों को मिटा सकता है। इस ज्ञान का प्रचार मानवता की संरक्षता के लिए आवश्यक है। आपका यह सत्कार्य श्लाघ्य है। मैं स्वयं पढ़ूँगा और अन्य मित्रों से भी पढ़ने की प्रार्थना करूँगा।

डा०.बी० एस० मिश्र
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आगरा कालेज

(१४).....आपके ये पत्र जहाँ एक ओर ज्ञानवर्धक हैं किसी साधक के लिए दूसरी ओर वे एक प्रकार की ऐसी मशाल हैं जो मार्ग को प्रकाशित करती हुई आगे-आगे बढ़ती जाती है और साधक सरलता से अपने पथ पर अग्रसर होता जाता है। ये पत्र ज्ञान की भूमिका पर नहीं अनुभव की भूमिका पर खड़े होकर लिखे गए हैं।.....अनुभव ज्ञान से बड़ा और कोई ज्ञान हो ही क्या सकता है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि ये पत्र उस जीवन यात्री के लिए पाथेय सिद्ध हो सकते हैं जो कल्याण मार्ग से आगे बढ़ना चाहता है। इनका अधिक से अधिक प्रचार हो यह वांछनीय है।

रामेश्वर दयाल दुबे
एम० ए० साहित्यरत्न राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, बर्वा।

(१५).....लेखों में मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों, मन, बुद्धि और आत्मा को भौतिक जगत में अध्यात्म की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया है। ज्ञान भक्ति

और कर्मयोग का समन्वय करके कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। पाठकों को कर्मयोगी बनने और अपने साथ संपूर्ण प्राणियों का हित साधन करने की प्रेरणा मिलती है। शिशु को माता रूपी गोद में जो सुख और शांति मिलती है, वही अनुपम शांति इस पुस्तक के अध्ययन और उसके अनुसार आचरण करने से प्राप्त हो सकती है। गहन विषय होने पर भी पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध है। पुस्तक पठन चिन्तन और मनन करने योग्य है।

नारायण दास रावत
बाल मंदिर चिरगांव भाँसी।

(१६) गीता तो विश्वनाथ जी का घन्टा है। उसे हर कोई बजाता है। सभी भारतीय मनीषियों ने गीता पर जरूर कलम चलाई है और शंकर से लेकर विगोवा तक नये अर्थ, नया चिन्तन, नई व्याख्या सवने की। आपकी कृति भी इस जंजीर की एक कड़ी है। सत प्रयास तो है ही।

रामसिंह तोमर
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, शांति निकेतन विश्व०

(१७) आपकी पुस्तक मिली। देखी। धार्मिक जनों के लिए उपयोगी है। डा० तोमर को भी दूँगा।

डा० राम विलास शर्मा
अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा

(१८) आपने कृपा कर अपनी पुस्तक भेजी। एतदर्थ धन्यवाद। पुस्तक मैंने सध्यान देखी। मुझे पसन्द आई। गीताग्रन्थ ऐसा है कि इस पर अनेक विद्वानों ने बहुत लिखा फिर भी बहुत लिखना शेष है और रहेगा भी। गीता हृदयंगम करणीय और नित्य प्रति अवलोकनीय है। वह ईश्वर-वाणी है। इसका जितना भी प्रचार हो उत्तम है हितकर है। आपको इसके लिए हार्दिक वधाई है। और भी सुन्दर रत्न आप हिन्दी को भेंट करेंगे, यह मुझे आशा है और यही शुभ कामना है।

रामशंकर शुक्ल रसाल
अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्व०

(१६) आपने अपने लेखों और ग्रन्थों के द्वारा गीता संदेश प्रचारित कर सचमुच एक स्तुत्य कार्य किया है। गीतामाता वस्तुतः सौभाग्य जननी है। जीवन के वर्तमान संदर्भ में तो उसकी आवश्यकता अपरिहार्य है। यह केवल प्रधानतया एक दर्शन ग्रंथ ही नहीं, हमारी संपूर्ण संस्कृति, आचार विचार, चिन्तन-भाव आदि का समुद्रा रूप भी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने विकल्प ग्रस्त अर्जुन को जो दृष्टि और दिशा, गति और मति दी, वह आज भी प्रत्येक को चाहिए, कारण आज प्रत्येक व्यक्ति भी तो अर्जुन ही है। आपने अपने लेखों में कुछ नवीन तथ्यों की ओर ही संकेत नहीं किया वरन गीता के प्रचार और अध्ययन की सरल, लोक रुचि सम्पन्न भूमिका भी उपस्थित की है। मेरा विश्वास है कि आपके लेख और सत्प्रयत्न हमें नई शक्ति और स्फूर्ति देंगे।

कल्याण मल लोढ़ा अध्यक्ष हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्व विद्यालय

२ ए देश प्रिय पार्क ईस्ट कलकत्ता-२६

(२०) लेखक के व्यक्तित्व की सात्विक गरिमा के समक्ष मेरा संसारी मन भी प्रणत हो उठा। ज्यों-ज्यों मैं पत्र पढ़ता गया आत्म निरीक्षण में क्षण बढ़ते गए। मैंने अनुभव किया है कि मेरे अन्तर्गत में आध्यात्मिक भावोंके प्रति श्रद्धा तो है परन्तु उनके गम्भीर रहस्यों से परिचित होने की उत्कट जिज्ञासा का अभाव सा है। किन्तु अचानक आपके इन पत्रों को पढ़कर मन में संकल्प उठता है कि अपने (स्वस्थ) शरीर को स्वध्याय और सत्संग में नियोजित कर आत्म निरीक्षण के क्षणों में वृद्धि करूँ और विभिन्न मनोविकारों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील रहूँ। इन पत्रों के रूप में मुझे एक संत रूप का आशीर्वाद अनायास ही प्राप्त हो गयी। मैं इन्हें अकिंचन की निधि की भाँति सजोए हुए हूँ। जब-जब इन्हें पढ़ता हूँ। तब-तब नई दृष्टि मिलती है। मेरे कुछ मित्रों और अध्यापकों ने इन उपदेशों की गहराई में जाकर इन्हें समझने का सफल प्रयास किया है। मेरी इच्छा है कि अधिकारी पाठकों के बीच इन पत्रों का अधिकाधिक आदान-प्रदान होता रहे।

वीरेन्द्र पाठक

एम० ए०, एल० एल० बी०' एल० टी० नरवल कालेज

(२१)....मैंने 'लोक सेवा' में प्रकाशित 'गीता माता की गोद में' शीर्षक वाले लेख पढ़े। आध्यात्म भाव से भरे हुए ये लेख 'श्री सीकर' जी के लिखे हुए थे।

भाषा बड़ी सरल और सुन्दर थी। पर लेख दो-तीन ही फाइल में थे। मुझे इन लेखों को पढ़ने में बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। फाइल के देखने से यह भी विदित हुआ कि 'सीकर' जी ने समय-समय पर अपने प्रिय जनों और परिवार के सदस्यों को जो ज्ञान वर्धक पत्र भेजे थे उन्हीं का संग्रह 'गीता माता की गोद में' नामक पुस्तक में प्रकाशित होने वाला है। मुझे इस अमूल्य ज्ञान वर्धक संग्रह देखने की बड़ी अभिलाषा हुई और कुछ समय बाद एक दिन 'गीता माता की गोद में' विश्राम मिल ही गया। मैंने बड़ी श्रद्धा से 'श्री सीकर' जी के इस ज्ञान भण्डार को पढ़ा। इस पुस्तक को लिखकर 'श्री सीकर' जी ने साधारण पढ़े-लिखे लोगों पर भी भारी उपकार किया है। जीवन की अनेक समस्याओं और गूढ़ विषयों का बड़ी सरल और सुन्दर भाषा में विवेचन किया है। यह धर्मपुस्तक सभी स्त्री पुरुषों के पढ़ने और मनन करने योग्य है। जो लोग 'गीता माता की गोद में' नामक पुस्तक का अध्ययन करेंगे उनका शेष जीवन अवश्य सारमय हो जायेगा।

मनी राम व्यास

संरक्षक, बुदेलखंड श्री रामायण महासभा झांसी।

(२२) शांति पूर्ण जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले को आपके विचारों से निस्सन्देह प्रेरणा प्राप्त होगी। आधुनिक युग भौतिकता का अत्यधिक उपासक हो गया है। उसमें आध्यात्मिक भाव का लोप होता जाता है, नई पीढ़ी जड़ होती जा रही है। आपने अपने अमूल्य विचारों को पुस्तक रूप में प्रकाशित कर जनता का बड़ा उपकार किया है। आपके लेख एक बार ही पढ़ने की चीज नहीं हैं। उन्हें तो बार-बार पढ़के उनके उपदेशों को जीवन में उतारने की आवश्यकता है।

डा० विनय मोहन शर्मा

अध्यक्ष हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय

(घ) समाचार पत्र एवम् संपादक वर्ग

(२३) लेखक ने पुत्र को जो पत्र लिखे और जिनमें उन्होंने जीवन सम्बन्धी बहुमूल्य उपलब्धियाँ प्रस्तुत कीं उन्हींका संग्रह यह पुस्तक है। पुस्तक के अध्ययन से भारतीयता का पता चलता है। जो समस्याएँ जीवन में आए दिन उठती हैं उनका समाधान लेखक ने अनुभव के आधार पर किया है। सभी लेख अनुभव पर आधारित हैं और चिन्तन के योग्य हैं। पुस्तक में आत्मतत्त्व, पुनर्जन्म, माया, सृष्टि, अभ्यास, वैराग्य आदि गूढ़ विषयों को रोचकता के साथ व्यक्त किया गया है।

संक्षेप में पुस्तक युवक युवतियों के लिए बहुत उपयोगी है और जो भारतीय संस्कृति से विमुख हो रहे हैं उनके लिए प्रकाश स्तम्भ के समान है। इसके अध्ययन से मानव जीवन को सरल बनाने में काफ़ी सहायता मिल सकती है।

नवभारत टाइम्स
दिल्ली १-११-६४

(२४) पुस्तक का नाम पढ़ कर लगा था कि कोई धर्म पुस्तक है पर पढ़ कर दखा कि यह जीवन शास्त्र है। गीता के वातावरण में जीवन के प्रश्नों पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया गया है। विचारक जीवन के अनुभवी साधक हैं और उनकी दृष्टि स्पष्ट है। पढ़कर मन को उद्बोधन मिलता है और राह दिखाई देती है।

नया जीवन
सहारनपुर

(२५) व्यावहारिक जीवन में गीता के उपदेशों को कैसे उतारा जा सकता है इस पुस्तक में लेखक ने स्पष्ट रूप से विचार किया है। गीता के कर्मयोग, भक्ति योग और ज्ञान योग की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य अपने दैनिक जीवन में इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करे। सीकर जी ने इस दिशा में गीता प्रेमियों का ध्यान प्रदीप्त किया है। साधकों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

निरूपाक्ष (दैनिक)
नव जीवन लखनऊ

(२६) प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर तथा भारतीय सिद्धान्तों और मान्यताओं की कसौटी पर परख कर गीता का कुछ विवेचन किया है। पुस्तक कुछ निबन्धों का संग्रह है और इस संग्रह में लेखक ने गीतामाता को आधार मान कर धार्मिक भावना को जागृत करने के लिए सामग्री प्रस्तुत की है वह बड़ी उपयोगी एवं शिक्षाप्रद है।

पंचायती राज
मेरठ ३०-५-६५

(२७) श्रीमद् भगवत गीता केवल आध्यात्म ज्ञान के जिज्ञासु के लिए ही पथ प्रदर्शक नहीं है, यह तो ससार में मनुष्य मात्र के लिए प्रकाश स्तम्भ बनी हुई,

दर्शाती है कि आत्म दर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य से दैनिक जीवन को साधना रूप में कैसे परिवर्तित कर लिया जा सकता है। 'गीता माता की गोद में' नामक उपयोगी पुस्तक के रचयिता की पैठ गीता ज्ञान में बहुत गहरी है। विभिन्न प्रकार के ऐसे प्रश्नों को लेकर जो आधुनिक भारतीय समाज को सम्भ्रांत करते रहते हैं शास्त्रों में दर्शाए हुए सिद्धान्तों के अनुसार यह उनका समाधान करते हैं। पाप पुण्य, हिंसा अहिंसा, कर्म, ज्ञान अथवा कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्ति सत्संग, व्यावहारिक समदर्शित्व इत्यादि ऐसे विषयों का उन्होंने भावोत्पादक ढंग से सरल सुबोध भाषा में वर्णन किया है। पुस्तक के अगले संस्करण में लेखों के शीर्षकों की सूची जोड़ देनी चाहिए।

प्रबुद्ध भारत

(अंग्रेजी से अनुवादित) मायावती अलमोड़ा एम० पी० पंडित

(६) सामान्य नर नारी वर्ग—अनुक्रमणिक

(२८) पत्रावली को ध्यान से पढ़ा, उसमें गीता प्रतिपादन ज्ञान के प्रकाशन की वारीकियों को देखा, बड़ा प्रभावित हुआ, महसूस हुआ कि आपकी इन पठनीय सामग्रियों से हर एक वर्ग और हर एक आदमी लाभ उठा सकता है। ये विचार और आपकी अनुभूतियाँ दुःख सुख में मनुष्य को बड़ा बल और विवेक प्रदान करने वाली है। निश्चय ही इनका अध्ययन तथा मनन हर आदमी के लिए नितान्त आवश्यक है। ये लेख मालाएं संगठित होकर यदि पुस्तक का रूप ग्रहण करेंगी तो अवश्य ही एक सराहनीय कार्य होगा। हमें तो ऐसा लगा कि ये लेख मनुष्य की पीड़ा व्यथा, दैन्य तथा निराशा आदि सभी परिस्थितियों में बड़ी सहायता करेंगे। वास्तव में अध्यात्मवाद से ही मनुष्य की पीड़ाओं का निवारण सम्भव है। इसी से उसे शांति प्राप्त हो सकती है। आप जैसे संत प्रकृति व्यक्ति द्वारा लिखे गए इन लेखों का बड़ा महत्व है, क्योंकि मुझे विश्वास है, जिस पर आचरण किया जाता हो ऐसी ही कहीं गई बातों का प्रभाव होता है। आपने कोरे उपदेश न देकर अभ्यास द्वारा इन्हें जीवन में उतारने की प्रेरणा भी की है जो ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगी। गीता संबंधी ये लेख आप की साधना और ज्ञान के उज्ज्वल प्रतीक हैं इसके लिए हमारी शुभ कामनाएं स्वीकार करें। इन अनुपम लेख मालाओं के लिए साधुवाद।

बलदेवजी महरोत्रा

एडवोकेट जौनपुर

(२६) इन उपदेशों द्वारा बहुत से भूले भटके साधक सही मार्ग पा जाते हैं और अपने को कृतकृत्य कर लेते हैं। आपके लिखे इन पवित्र उपदेशों से ज्ञान के भूखे कितने ही लोगों की ज्ञान पिपासा शांत होती होगी और वे साधना के मार्ग के सच्चे पथिक बन जाते होंगे ऐसी मेरी धारणा है। इन लेखों की उपयोगिता के विषय में लिखना सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है। एक एक पंक्ति उपदेशामृतों से भरी हुई है और जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

वृज बिहारी लाल कपूर
एडवोकेट हाईकोर्ट

(३०) अवकाश निकालकर मैं इनका एक-एक शब्द पढ़ूंगा और समझने की कोशिश करूंगा। विषय बड़ा गम्भीर है किन्तु आपने उसको बड़ी सरलता से समझाया है इसलिए समझ सकूंगा ऐसा विश्वास है। आपकी स्नेह स्मृति के लिए पुनः हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

बुद्धलाल महरोत्रा
कानपुर

(३१) आपके विचार पढ़ने का सौभाग्य मिला। एक बार नहीं मैं तो उन्हें अनेक बार पढ़ चुकी हूँ, बहुत आनन्द मिलता है। तकरीबन हर रोज, कहीं न कहीं से फिर पढ़ती हूँ। जो भी हो मुझे तो इन्हें बार बार पढ़ने में ही अच्छा लगता है। एक बार पढ़ने बैठी तो रात को देर तक पढ़ती ही रही किन्तु मन चाहता है कि बार बार पढ़ूँ। मुझे इन्हें पढ़कर कितना आनन्द मिलता है मैं शब्दों में प्रगट नहीं कर सकती।

(श्रीमती) विमल भल्ला
बी० ए० दिल्ली

(३२) आध्यात्मिक साहित्य के लिए बहुत बहुत धन्यवाद। यद्यपि मैं ऐसी ऊँची बातों को समझने के लायक नहीं हूँ तो भी इससे पूरा लाभ उठाने की कोशिश करूंगा।

बदुक नाथ महारा
अजमेर

(३३) आपकी लेख माला पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके आध्यात्मिक ज्ञान की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ। पाठकगण पढ़ कर अपना कर्तव्य निभाने में अधिक समर्थ होंगे और उनका आत्म बल बढ़ेगा। मैं इन लेखों के भावों को जहाँ तक समझ सका हूँ वहाँ तक आपका बहुत आभारी हूँ। आशा करता हूँ कि ये लेख अधिक से अधिक व्यक्तियों के पास पहुँचेंगे एवं जन कल्याण होगा।

वंशीधर

क्षेत्र विकास अधिकारी वार (झाँसी)

(३४) आपके भेजे हुए आध्यात्मिक तथ्य तथा गीता के उलझे हुए प्रश्नों की विशद व्याख्या प्राप्त हुई। आप ही जैसे पथ प्रदर्शकों द्वारा भटकते हुआँ का उद्धार निहित है। मैंने उनको पढ़ा, आजकल जो प्रश्न प्रायः आते हैं उन सब का ही समाधान बड़े सुन्दर शब्दों में था। हम तो सदैव ही आपको एक आदर्श गृहस्थ के रूप में देखते रहे हैं और अब आपके वानप्रस्थी और संयासी जीवन का समन्वय की रूप रेखा बन रही है।

.....विवेचन सदैव समस्याओं को सुलझाने के लिए ही किया जाता है। परन्तु भिन्न-भिन्न विचारों की खींचातानी में समस्या उलझती भी उतनी ही है परन्तु वास्तव में सीकर द्वारा प्रस्तुत सद्-सद् विवेक और विशद व्याख्या द्वारा आध्यात्मिक तथ्य संसारी उलझनों में फँसे और भटकते जीवों के लिए तो पथ प्रदर्शक का काम करते हैं। आजकल के जीवन में प्रायः जो प्रश्न आते हैं उनका समाधान बड़ी ही सुन्दर, सुबोध और सरल शैली में किया गया है। आजकल के पढ़े लिखे युवक और युवतियाँ जिनमें थोड़ी सी भी अभिरुचि और आस्था इस ओर हो तो वे बिना किसी विशेष परिश्रम के भली भाँति समझ सकते हैं और गीता जैसे महान ग्रंथ के सार निष्काम कर्मयोग को समझ कर अपने जीवन में ढाल सकते हैं और मानव जीवन को सार्थक बना सकते हैं। इस गीता गंगा को जनता-जनार्दन रूपी समतल भूमि में लाने के लिए सीकर महोदय भागीरथ।

मनसुखलाल दुबे

वी० ए०, एल० एल० वी०, एडवोकेट, मैनपुरी

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१	अभ्यास में	अभ्यास से
१८	२६	उसे दिखी	उसे दिखा देगा
१९	१	सदिप्राः	एक सदिप्राः
२५	२४	प्राप्त	प्रेरित
३१	२१	मंत्र	यंत्र
४१	६	कमसेकम	कमसे
६२	३	रूपी	—
६६	२४	भक्ति	शक्ति
१००	२२	निश्चय	निश्चल
११२	५	यह रज	पदरज
"	"	पथ	भय
१४२	२३	वह	कह
१४३	२१	कर ४ बजे प्रातःकाल	जाता है
१४४	४	उपदेशानुसार	उपदेश से
१४७	२२	प्रोढ	परमप्रिय
१४८	११	सत् पुरुषों की	—
१५५	२२	स्व	स्वप्न

भूलें

पृष्ठ	पंक्ति	भूलें
१८	१	सुधार:—दुष्कर्म का, जो कमना जनित और बन्धन कारक है
१८	अन्तकी	पद पृष्ठ ५२ में
२३	"	पद पृष्ठ ८९ में दुबारा भूलसे १०२ में
४१	"	पद पृष्ठ ४७ में
४२	१८	सुधार:—अल्पबुद्धिमें
पृष्ठ ४८ में अन्त की पाच पंक्तिया छपने से रह गई है		
'वृत्तियों को पराजित करके अपने अधिकार में कर लिया है उसके लिये सांसारिक द्वन्द्वों की सुखदुःख रूपताकयही अन्त हो जाता है । कामना विलीन हो जाने से कर्म फल सिद्ध पुरुषों के लिए बंधन हीन हो जाते हैं । बीजके भुन जाने पर अंकुर नहीं जमता । मनुष्य का अन्तः करण जब ज्ञान युक्त भक्ति द्वारा ईश्वर शरणागतमें इतना लवलीन हो जाता है कि उस निधि के सामने दूसरे धन का मूल्य ही दृष्टि में नहीं रह जाता—		
५२	१३	पूरा पद पृष्ठ १३३ में
७७	२४	मे इन में से चार
१३१	१६ पृष्ठ ५६, ५७ देखे जाय	

नोट:—खण्ड तीन के समान इस खण्ड में भी कौमा, सेमीकोलन, विराम, अनुस्वार, मस्तक पर रकार, विसर्ग, में, ये, योग भोग, मात्रायों इत्यादि की अशुद्धियाँ मिलेंगी परन्तु पहले से बहुत ही कम । बहुत सावधानी बरतने पर भी न जाने वे कैसे आ जाती हैं । इनके लिए पाठकगण से क्षमा प्रार्थी हैं, पृष्ठ ४८ की भूल के लिए विशेषकर । दो स्थानों पर सुधार भी कर देना उचित समझा ।

चारों भागों के लेखों के शीर्षकों की सूची

पहला भाग—खण्ड १

१. अवतार तत्व ।
२. असंस्कारी को संस्कारी बनाना ।
३. प्रत्येक विधि में सत्य और अहिंसा का प्रयोग ।
४. विगड़ी को मिटाने की विधि ।
५. पापी मन ।
६. सत्य वस्तु पाने का रास्ता—सदसद्गुरु ।
७. पाप पुण्य ।
८. ज्ञान के बदले कर्म से मोक्ष कैसे—मृत्यु से परे का जीवन कैसा ?—जड़ पदार्थ और शक्ति—कन्यादान ।
९. कर्म गति टारे नहीं टरे—गहना कर्मणोगतिः ।
१०. समदर्शित्व, आध्यात्मिक विकास, चरित्र संगठन ।
११. उपनिषदों के भूले हुए ज्ञान को व्यवहार द्वारा सजीव बनाइये ।
१२. प्रारब्ध कर्म की विलीनता—चौरासी लक्ष्योनियाँ ।
१३. गीता में युद्ध की ध्वनि अवश्य है परन्तु हिंसा विरहित—संयोग-वियोग ।
१४. सुख की सुख रूपता ही जाती रही । कीर्तन में ढोंग तथा अन्य प्रश्नोत्तर ।
१५. गृह स्वामी का अपनी सन्तान तथा आश्रितों के प्रति शास्त्रोक्त व्यवहार । शिशु के प्रति माता-पिता का, छोटे बालकों में आपस का ।
१६. कैसे माना जाय कि ईश्वर है ?
१७. हिन्दू धर्म और उसके अन्तर्गत विचार ।
१८. हमारे पंडित जी तथा अन्य बातें ।
१९. रात्संग का विस्तार ।
२०. प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान ।
२१. भविष्यत वाणी पर विश्वास—अविश्वास ।
२२. कर्म के प्रशस्तत्व में भावना की तात्त्विकता ।
२३. अशिष्ट व्यवहार के प्रति शिष्ट व्यवहार, न कि जैसे के साथ तैसा ।

२४. असहाय विद्यार्थियों की आर्थिक समस्या पर गीतामाता से प्राप्त उत्तर ।
 २५. भगवान की अपार और अनन्त माया के चिन्तन में उनकी किसी लीला को असम्भव मानना युक्तियुक्त नहीं है, तथा एक भ्रम, निवारण ।
 २६. दो सच्ची घटनाओं से ग्रहण करने योग्य एक व्यवहारिक उपदेश ।
 २७. किस कारण से ऋषि कुल में उत्पन्न रावण की पापाचरण में प्रवृत्ति हुई ?
 २८. केवल एक स्थिति विशेष में ही माता की ज्योति का प्रकाश मिलता है ।
 २९. अवतार की प्रतीक्षा ।
 ३०. क्षमा ।

पहला भाग—खण्ड २

१. भारतीय सैनिकों के वीरत्व का रहस्य ।
२. 'क्या यज्ञ करना पाप है ?' नामक इस पुस्तिका को पढ़कर बताइए कि गीता-माता का इस विषय में क्या उपदेश है ।
३. सत्याग्रह सिद्धान्त की एक रसता ।
४. 'क्रिश्चियन साइन्स' पर गीताज्ञान के प्रकाश में विचार ।
५. वृद्धावस्था की समस्याएँ तथा उनके निदानों पर विचार ।
६. प्रचार कार्य की उपयोगिता ।
७. विनाश मार्ग में पड़े हुए दाम्पत्य जीवन रूपी क्षय रोग की प्राकृतिक चिकित्सा (बताइये क्या है) ।
८. विवाद में परपक्ष पर शान्ति पूर्वक भलीभाँति ध्यान दिए बिना किए कटाक्ष की प्रभाव हीनता ।
९. मन को जहाँ उत्तेजित होने दिया कि बुद्धि पर तत्क्षण आवरण पड़ा और तत्व ज्ञान दृष्टि से अगोचर हुआ ।
१०. अपने नाम को उपनाम से ढके रखने का रहस्य और उसकी महत्ता ।
११. सत्य के प्रयोगों द्वारा व्यवहार में विजय ।
१२. इन्द्रियों की लोलुपता से निवृत्ति प्राप्त करने की प्राकृतिक अनुभव सिद्ध विधि ।
१३. जिज्ञासु की जिज्ञासा—“आपके लेखों में ईश्वर प्राप्ति मार्ग का स्पष्ट बोध नहीं होता—अनन्य भक्ति का क्या स्वरूप है ?”
१४. केवल एक अभिमान त्याग के अभ्यास द्वारा विकार प्रवेश का मार्ग बन्द और एक के पश्चात् दूसरे सद्भाव के लिए हृदय का खुले रहना सम्भव ।

१५. पापाचरण में आसक्त कामी व्यक्ति द्वारा किए हुए परोपकारी कर्मों का भी स्वरूप कपटी ही समझे जाने योग्य है ।
१६. रुग्ण प्रियजन के संबंधित वियोग जनित भय द्वारा विषादी मन की असहाय दशा का वर्णन ।
१७. मन की अधीरता से निवृत्ति पाने की सरल विधि ।
१८. 'गीतामाता की गोद में' नामक पुस्तक सम्बन्धी प्रचाररूप यज्ञ ।
१९. 'गीतामाता की गोद में' नामक पुस्तक के प्रचार सम्बन्धी समाचार । (पहला अंक)
२०. 'गीतामाता की गोद में' नामक पुस्तक सम्बन्धी प्रचार रूप यज्ञ-यज्ञ दान तपादि शुभ कर्मों की महिमा का वर्णन ।
२१. 'गीतामाता की गोद में' नामक पुस्तक के प्रचार संबंधी समाचार । (दूसरा अंक)
२२. यज्ञ कार्य में दान के लिए जनसमुदाय से प्रार्थना करने की निर्दोष विधि ।
२३. एक सहज वाल बुद्धि सुलभ का भ्रमात्मक विचार—"इस प्रचार कार्य से उपलब्ध आपके व्यक्तिगत संतोष का स्वरूप स्वार्थमय क्यों न माना जाय !"
२४. आशा, निराशा, पुनः आशा ।
२५. लज्जा दान की असात्विकता का वर्णन ।
२६. कीर्ति की अभिलाषा सम्बन्धी एक भ्रम निवारण ।
२७. प्रसंग की ओर पूर्णतया ध्यान न देकर भ्रमात्मक बुद्धि द्वारा ग्रहण किए विचारों से उत्पन्न अनिष्टता । इससे बचने की सरल विधि ।
२८. दैनिक जीवन में साधारण घटनाओं से सार खींचे बिना उनको बहा देने से शान्ति मार्ग प्राप्ति की दुर्लभता एवं उन्नति मार्ग में विघ्न बाधाओं की बाहुल्यता ।
२९. उन्नति विहीन अचेत सकाम प्रार्थी की झूठी आशा ।
३०. श्रद्धा सम्बन्धी गीतामाता के उपदेश ।
३१. स्व सीमितता ।
३२. 'गीता माता की गोद में' नामक पुस्तक संबंधी एक महत्वपूर्ण निरुणय ।

दूसरा भाग—खण्ड १

१. परमेश्वरार्पण की भावना ।
२. ज्ञान-विज्ञान युक्त भक्ति मार्ग सरल नहीं है ।
३. बानप्रस्थाश्रमी धर्म ।
४. ईश्वरार्पण बुद्धि का अभ्यास ।

५. शुद्धाचरण का मार्ग ।
६. पूर्व संस्कारों द्वारा निमित्त जन्म स्वभाव—ईश्वर पुजारी-ब्रह्मज्ञानी ।
७. ओ३म् तत्सत्—इस गागर में सागर ।
८. सुख दुःख के भीतर है ।
९. भगवान के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास कैसे हो ?
१०. ज्ञान प्राप्ति के दो मार्ग ।
११. भगवान के चतुर्भुज रूप के आश्रय से आत्मोन्नति—श्रद्धा से ज्ञान प्राप्ति ।
१२. ईश्वर आराधना की विधि क्या है ?
१३. दिव्य ज्योति की कल्पना तथा वैराग्य—चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ।
१४. श्रद्धा और विश्वास कैसे उत्पन्न हो ?
१५. वैदांतिक विचारों की सत्यता ।
१६. प्रारब्ध और संचित कर्म—नित्यानन्द की ओर ।
१७. पूर्व संस्कारों की प्रबलता—दुःखों के अनुभव से ज्ञान की ओर प्रवृत्ति ।
१८. स्वधर्म को कैसे पहचाना जावे तथा अन्य प्रश्नोत्तर ।
१९. भारत के ऋषियों की दिव्य दृष्टि ।
२०. परमेश्वर दिखता क्यों नहीं ? तथा प्रासंगिक प्रश्नोत्तर ।
२१. सत् वस्तु क्या है ? तथा अन्य प्रश्नोत्तर ।
२२. माया तथा प्रासंगिक प्रश्नोत्तर ।
२३. अपना धर्म तथा प्रासंगिक प्रश्नोत्तर ।
२४. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति अद्भुत, भगवान की महिमा ।
२५. परमेश्वर के तीन स्वरूप, प्रत्येक के मुख्यगुण—जन्म से मरण पर्यन्त के धार्मिक संस्कार ।
२६. पतनोत्थान ।
२७. भारतीय संस्कृति ।
२८. अन्तकाल की तैयारी में ।
२९. श्रद्धा, धैर्य और पुरुषार्थ की त्रिवेणी में साधना रूपी स्नान ।
३०. दुःख में सुख अनुभव करने की विधि ।
३१. सच्ची तीव्र जिज्ञासा ही सर्वोन्नति का मूलाधार है ।

दूसरा भाग—खण्ड २

१. मृत्युजनित वियोग दुःख की सत्यज्ञान द्वारा निवृत्ति ।

२. कर्मानुसार प्रारब्ध के सुख दुःख भोग ।
३. बालपुत्र की हत्या पर दैवी सान्त्वना ।
४. वृद्धावस्था में अस्वस्थता जनित निर्बल विचारों पर विजय प्राप्ति का मार्ग ।
५. गीता में वर्णित 'वाक्काय मानस' तप का और उसके चतुर्दिक शान्तिप्रद परिणामों का स्पष्टीकरण ।
६. गृह प्रवेश होते ही नव वधु पर संकट प्रहार । पार होने के लिए गीता माता के परमोपयोगी उपदेश ।
७. शुभाशुभ कर्म करने की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर गीता माता द्वारा प्राप्त प्रकाश ।
८. शंका समाधान-माँस भक्षण पाप है या नहीं ।
९. भौतिकता भ्रम मूलक आध्यात्मिकता शान्ति प्रदायक ।
१०. हिन्दू धर्म की गीतोक्त व्याख्या ।
११. महेश्वर के अधिभूत क्षर भाव के चिन्तन से कर्तव्य परायणता तथा परम अक्षर भाव के चित्तन से अनन्यमयता अर्थात् परामक्ति ।
१२. रिलिजन (धर्म) का सच्चा स्वरूप—पूजा जप ध्यान क्यों करता चाहिए—किसका करना चाहिए ?
१३. प्राणियों के अन्तकाल की स्थिति तथा उनकी आयु अवधि की निर्भरता—इन प्रश्नों पर गीता ज्ञान के प्रकाश में विचार ।
१४. 'विप्र' और 'शूद्र' के केवल कुल जन्मानुसार उत्पत्ति वाले अर्थों से विचलित एक युवक की समस्या पर गीता ज्ञान के प्रकाश में विचार ।
१५. अवतारी मतों की भ्रमात्मक पृथक्ता में वास्तविक एक्यता ।
१६. भारतीय संस्कृति के प्रतीक स्वर्गीय श्री लाल बहादुर शास्त्री ।
१७. मन की चंचलता कैसे दूर हो ।
१८. संकटकाल में धैर्य अवैर्य ।
१९. कर्म कौशल में सहायक गीतोपदेश—एक चिन्तन ।
२०. प्रत्येक परिस्थिति में आचरण ईश्वरेच्छा के अनुकूल-प्रतिकूल जान लेने का मार्ग ।
२१. दैनिक व्यवहार द्वारा आचरण में लाए बिना ज्ञान निरर्थक । ज्ञान वही जो उन्नति की ओर सहायक हो ।
२२. गीतोपदेशों की सार्वभौमता—वर्तमान राजनीति और गीता ।

”

—विश्वशान्ति और गीता ।

छः

” —सर्वभौम संगठन और गीता ।

” —अवतारवाद और गीता ।

२३. श्रद्धा के उत्कर्ष का निश्चित मार्ग ।

तीसरा भाग—खण्ड १

१. निष्काम कर्म की भावना ।
२. अर्जुन का मोह नष्ट-गीता में धर्म अधर्म की विवेचना ।
३. निरन्तर ध्यान ।
४. सद्रूप भगवान् ही शाश्वत धर्म गोप्ता हैं—गीता मनुष्य को क्या सिखाती है ?
५. नैष्कर्म्य सिद्धि ।
६. आत्मा तथा परमात्मा ।
७. गीता अध्ययन ।
८. गीता महात्म्य ।
९. मुमुक्षु के मुख्य कर्तव्य-देवी और आसुरी प्रकृति ।
१०. निष्काम कर्म की विशेषतायें ।
११. नित्यानन्द आत्मा का धर्म है, इसके बल से विवेक द्वारा निष्काम कर्म के आश्रय से मुक्ति की ओर गति ।
१२. श्रद्धा संशय नाशनी ।
 - ” अनुराग वर्धनी ।
 - ” आचरण शोधनी ।
 - ” अमृदायनी ।
१३. गीता १२।१२ में वर्णित अभ्यास, ज्ञान, ध्यान की व्याख्या ।
१४. वैराग्य दुःसाध्य ?
१५. गीता १२।१२ पर एक विचार की समालोचना ।
१६. प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान (पहला अंक) ।
 - प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान (दूसरा अंक) ।
 - प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान (तीसरा अंक) ।

तीसरा भाग—खण्ड २

१. शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान सनातन मार्ग ।

२. गीता की दृश्य भूल भुलैय्यों में निश्चित मार्ग ।
३. अव्यक्त ईश्वर ।
४. निष्काम कर्म योग की व्युत्पत्ति ।
५. गीता में 'योग' और 'योगी' शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग ।
६. प्रभु का सच्चा स्वरूप क्या है ?
अदृश्य प्रभु को पाने का रास्ता ।
भगवान् कृष्ण की बताई हुई प्रभु प्राप्ति की सरल विधि (पहला अंक) ।
भगवान् कृष्ण की बताई हुई प्रभु प्राप्ति की सरल विधि (दूसरा अंक) ।
७. ज्ञान, भक्ति, और कर्म योग का समन्वय ।
८. प्रेम और भक्ति का मीमांसिक पृथक् करण ।
९. गीता ६ । २७ में कहे हुये 'मदर्पणम्' का स्पष्टीकरण तथा अन्य शंकाओं का समाधान ।
१०. देश के वर्तमान दूषित वातावरण में वर्माविरुद्ध व्यवसायात्मिक बुद्धि का प्रयोग ।
११. तीन समस्यायें ।
१२. मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों का प्रेरक निस्सन्देह पूर्व संस्कार जनित उसका स्वभाव है, न कि परमेश्वर; परन्तु यह स्वभाव परिवर्तनशील है । कुसंग और निःशृङ्खल जीवन से दुर्गति तथा सत्संग और संयम द्वारा ऊर्ध्वगति ।
१३. गीता १४ । २२ के सम्बन्ध में किए हुए एक प्रश्न का माता द्वारा प्राप्त उत्तर ।
दूसरा प्रयास ।
१४. शंका समाधान ।

चौथा भाग

१. विधि दृष्ट तथा अनुभव सिद्ध उपदेशानुसार
 - (अ) पारिवारिक विज्ञान रत्नमाला,—पाद १ से ५३ ,
 - (इ) विदेश निवास, त्याग तथा विवाह सम्बन्धी
परामर्श—पाद ५४ से ६३ ,
 - (उ) विविध प्रकरण पर विचार—पाद ६४ से ६९ ।

२. सन्तान निग्रह । मनोयोग का चमत्कार ।
३. शरीर रक्षा-पाद १ से १७ ।
४. शरीर रक्षा के नियम । उसमें जल चिकित्सा का महत्व पाद- १ से १४
५. लक्ष्य स्वास्थ्य सुधार; उसके लिए प्राकृतिक एवं अनुभव सिद्ध विधि के प्रकार—
११ अंकों में—पाद १ से १२३ तक ।
६. स्वाभाविक माधुर्यता स्त्री (पत्नी) का विशेष भूषण । पाद १ से १४ ।
७. रामायण में ज्ञान-विज्ञान का प्रसार ।
८. रामायण में सुन्दर काण्ड के पाठ को संकट मोचन क्यों माना जाता है ?
९. विरोधाभाव परिपूर्ण, किन्तु निस्वार्थ, प्रेम और सेवा पूर्ण बुद्धि पूर्वक विवाद
द्वारा अन्तिम चतुर्दिक संतोषदायक निर्णय करने की आदर्श सात्विक
विधि । पहला अंक ।
दूसरा अंक ।
१०. भगवान रामचन्द्र ने बालि को वृक्ष की आड़ में छिपकर क्यों मारा ?
११. मत्सरमयी कैकयी निष्ठुरता की मूर्ति ।
१२. मत्सरता बिनाशकारी और अद्वेष नित्य शांति स्वरूप । कैकयी और माता
कौशिल्या आदि के पृथक्-पृथक् आचरण ।
१३. क्रोधोत्पन्न उद्वेग युक्त तथा अनुद्वेग सरल भावयुक्त मनीषियों में संघर्ष । राम,
लक्ष्मण, परशुराम संवाद ।
१४. अंगद का आत्मबल और तेज—रावण के मस्तक पर काल का नृत्य ।

371
29.6.62



